

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180094

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H834

Accession No. H 3306

S13 N

Author

साहू, मिश्रीरं

Title

लागिनें और फुकल्ले 1958

This book should be returned on or before the date
last marked below.

नागिनें और बुलबुले

किशोर साहू

कि ता व म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

१९५८

प्रथम संस्करण, १९५८
सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित

किशोर साहू की पुस्तकें

टेसू के फूल
(कहानी संग्रह)

वीर कुणाल
(सचित्र ऐतिहासिक उपन्यास)

अभिसार
(गद्य-गीत संग्रह)

शादी या ढकोसला
(एकांकी नाटक संग्रह)

हठीली राजकुमारी
(कहानी संग्रह—बच्चों के लिए)

नागिनें और बुलबुले
(कहानी संग्रह)

प्रकाशक : किताब महल, ५६ ए जौरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : महावीर प्रसाद, प्रेम प्रेस, इलाहाबाद।

अशोक कुमार

को

अनुक्रम

प्राक्कथन	...	१—१२
नागिनें और बुलबुले	...	१
चाय	...	६
ठंडा पसीना	...	३२
लहू के धब्बे	...	४८
टेलीफ़ोन पर	...	९६
बाबू	...	१११
मोती-से दाँत	...	१२१
नीली-नीली तितलियाँ	...	१३१
मुँहदिखाई	...	१३९
पहली फुहार	...	१४९
हरा रुमाल	...	१७५
धुएँ की लकीर	...	१९३

प्राक्थन

लगभग यह सारी कहानियाँ मैंने पिछले कुछ महीनों में लिखी हैं। इसलिए लिख पाया कि कुछ तो लिखने को अवकाश मिल गया और कुछ मूड ही आ गया लिखने का। लिखने से मेरा अर्थ साहित्यिक लघु-कथा लेखन से है। अवकाश और मूड का अनुकूल संयोग होने पर ही मैं लिखा करता हूँ। वैसे तो मैंने बहुत सारी कहानियाँ लिखीं—बिना अवकाश की प्रतीक्षा या मूड की रक्षा किये—पर वह सब चल-चित्रों के लिए पटकथाएँ थीं। अगर मैं उन कहानियों पर चित्र न बनाता, तो अवश्य ही वह सब की सब लघु-कथाओं और उपन्यासों का रूप ले लेतीं। सिनेमा-कहानी और साहित्यिक कहानी की लेखन-विधि में विशेष अंतर नहीं हुआ करता। अंतर होता तो है पर विशेष नहीं। और जो अंतर होता है, वह बहुधा उनके रूप और आकार में होता है, उनकी कथावस्तु में नहीं, उनके कथानक में नहीं। इसीलिए अच्छी साहित्यिक कथाओं का सहज ही में पटकथाओं में रूपान्तर किया जा सकता है, जिस प्रकार अच्छी पटकथाओं का रूपान्तर साहित्यिक कथाओं में किया जा सकता है। मुख्य बात है कथावस्तु। कथावस्तु पटकथा की जान है—और उपन्यास और लघु-कथा की भी।

जब कभी मुझे कोई थीम या पात्र सूझा, तो मैंने अक्सर ही उस पर खूब सारा सोच-सुचाकर एक मनपसंद कथावस्तु

तैयार की। उस कथावस्तु पर उपन्यास या लघु-कथा लिखने का तय करके जब कभी लिखने बैठा तो नीयत बदल गई। अपने चित्रों के लिए मुझे सदा ही अच्छी कहानियों की आवश्यकता रहती है। फ़िल्मी और साहित्यिक बाज़ार में मनपसंद कहानी न मिलने के कारण मुझे अक्सर ही अपना उपन्यास या लघु-कथा लेखन बंद करना पड़ा है और उन्हीं कथावस्तुओं पर अपने चित्रों की पटकथाएँ निर्धारित करनी पड़ी हैं। नतीजा यह होता रहा कि मैं इन दिनों साहित्यिक लघु-कथाएँ या उपन्यास न लिख पाया। मुझे रंज नहीं। पुस्तक की तरह फ़िल्म भी महत्व रखती है। मेरी कहानियों पर दर्जनों फ़िल्में बनीं। लाखों, करोड़ों व्यक्तियों ने उन कहानियों पर बनाए हुए चित्र देखे; और उन लाखों, करोड़ों का मनोरंजन हुआ। यह भी बड़ी बात है, और मन को सुहानेवाली बात है। अगर मैं उन कथावस्तुओं को सिनेमा को न देकर उनपर लघु-कथाएँ या उपन्यास लिख लेता, तो मेरी कहानियों की पहुँच का दायरा केवल सभ्य और सुशिक्षित समाज तक ही सीमित रह जाता।

जिस प्रकार लोगों की भीड़ देखकर वक्ता को प्रेरणा मिलती है, उसी प्रकार कहानी-लेखक की भी इच्छा होती है कि उसकी कला-कृतियाँ अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच पाएँ। पटकथा वहाँ पहुँचती है, जहाँ पुस्तकों के रूप में साहित्यिक कथाएँ नहीं पहुँच पातीं। कारण यही है कि उन सब को, जिनके पास आँखें हैं, पढ़ना नहीं आता। अतएव चित्र प्रायः सब देख लेते हैं, पर पुस्तक केवल सुशिक्षित ही पढ़ सकता है—अगर उसे पढ़ने का शौक हुआ और उसकी आर्थिक दशा

इस योग्य हुई कि वह पुस्तक खरीदकर पढ़ सके तो, और तो ही, अन्यथा नहीं, और कदापि नहीं।

फिर भी एक बात है। और वह बात ज़रा बारीक बात है। वह बात यह है : हर कहानीकार को अपनी रचना पुस्तक-रूप में देखने की प्रबल इच्छा रहती है। इस इच्छा की पूर्ति सिनेमा नहीं करता। कहानी पर चित्र बन जाते हैं और लाखों देख जाते हैं। पर कहानी-लेखक के पल्ले कहने योग्य कुछ नहीं पड़ता—सिवाय ऊँचे पारितोषिक के। केवल ऊँचे दामों से ही लेखक का समाधान नहीं होता; क्योंकि कला-कृति का मूल्य रुपयों में ही तो आँका नहीं जा सकता। लेखक की पटकथा तो निर्देशन, अभिनय, छायालेखन, ध्वनिलेखन और सम्पादन आदि के अंतर्गत पर्दे पर देखी और सुनी जाती है, पढ़ी नहीं जाती। इसी कारण लेखक को सम्पूर्णतः समाधान नहीं होता। अपनी रचना को बिना किसी अन्य तत्वों के सहारे, बिलकुल उसके अपने ही वास्तविक और असली रूप-रंग में, देखना हर लेखक चाहता है; और अगर लेखक साहित्यकार भी हुआ, तब तो उसका यह प्रलोभन और भी तीव्र हो जाता है।

सो, रह-रहकर, जब कभी मौका मिला, मैंने अपनी कृतियाँ पुस्तक-रूप में छपवाई हैं। 'टेसू के फूल' मेरा पहला कहानी-संग्रह था। सैकड़ों लघु-कथाएँ मैंने अपने चित्रों में भर दी। पर शिक्षित वर्ग को चित्रपट की वह सैकड़ों कहानियाँ—मेरा मतलब लघु-कथाओं से है जिनसे पटकथाओं के सीन और मीक्वेस भरे पड़े रहते हैं—नहीं दिखाई दीं। उन्हें केवल

‘टेसू के फूल’ में छपी हुई कहानियाँ ही दीख पाईं। वह समझ में लिखना छोड़ दिया। अपने पत्रों में लोग मुझसे निरंतर यही कहते हैं। उनकी यह धारणा निर्मूल है। मैंने लिखना नहीं छोड़ा, न उपन्यास और न लघु-कथा। बराबर लिखता चला आया हूँ—किन्तु केवल फ़िल्म के लिए। या यों समझिए कि इन दिनों अपनी कृतियों को पुस्तक-रूप नहीं दे पाया था, यानी लिखना नहीं छोड़ा था, छपवाना ज़रा छोड़ा हुआ था।

‘नागिनें और बुलबुले’ की सारी कहानियाँ (‘टेलीफ़ोन पर’ के अतिरिक्त, जो १९४७ में लिखी गई थी) मेरी एकदम नई कृतियाँ हैं। इनमें से कुछ पत्रिकाओं में छप चुकी हैं।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, पट कथा और साहित्यिक कथा में जो भेद है, वह बहुत अंश तक केवल उनके रूप में है—और होना भी चाहिए—उनकी कथावस्तु में नहीं। वह कथा जो केवल शब्दों का आडम्बर मात्र हो, और जिसमें सिवा प्रगल्भता के कुछ न हो, जिसमें होता-जाता कुछ न हो और जिसमें सुनने-सुनाने योग्य कोई घटना न हो, मैं उसे कथा मानने को तैयार नहीं। विद्वत्तापूर्ण शब्दों की भरमार वाली ऐसी रचना वक्तव्य हो सकती है, लेख हो सकती है, निबंध हो सकती है, परंतु लघु-कथा कदापि नहीं। केवल किसी बात का वातावरण खींचना, या समाँ बाँधना, या किसी पात्र का चरित्र-चित्रण करना ही लघु-कथा कहना नहीं है। उसी तरह घटना-चक्रयुक्त लम्बी-चौड़ी गाथा को संक्षिप्त में कह देने से भी लघु-कथा न बनेगी। उस संक्षिप्त कृति को लघु-उपन्यास कह सकते हैं या उपन्यास का सारांश कह सकते हैं, लघु-कथा नहीं। लघु-

कथा चीज़ ही जुदा है। लघु-कथा के मूल में एक ही घटना होनी चाहिए, घटनाओं का समूह नहीं; पर वह एक घटना होनी अवश्य चाहिए। मैंने देखा है, अपने देश में ही नहीं, वरन् अन्य देशों में भी, बहुत-से लघु-कथा लेखक 'निबंध' और 'उपन्यास-सारांश' के अंतर्गत भटकते रहते हैं। उनकी कृतियाँ लघु-कथा नहीं। यह मेरा अपना विचार है। मुझे आशा है पाठक मुझे ग़लत न समझेंगे। मैंने लघु-कथा की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया है, क्योंकि, मैं जानता हूँ, लघु-कथा की परिभाषा देने में विश्व के साहित्य-समालोचक अब तक एकराय न हो पाये हैं। एडवर्ड ओब्रायन ने बहुत सुंदर कहा था : "लघु-कथा वह कथा है जो लघु है।" परंतु इस पर भी समालोचक उलझ पड़ते हैं। वह पूछते हैं कि 'कथा' के क्या मानी हुए और 'लघु' यानी कितनी छोटी? तो, मैं इन व्याख्याओं और परिभाषाओं के वाद-विवाद में नहीं पड़ूंगा। मैं समालोचक नहीं, लेखक हूँ। और मेरी कृतियों का यह संग्रह आपके सम्मुख है। यह लघु-कथाएँ हैं। कोई कहानी २,००० शब्दों में कही गई है और कोई ७,००० शब्दों में और कोई लगभग १२,००० शब्दों में। पर यह सब की सब लघु-कथाएँ हैं और इन्हें लिखते समय लेखक के हृदय-तंत्री के तार भंकृत हो उठे थे।

मेरे पिछले कहानी-संग्रह 'टेसू के फूल' की कहानियाँ पाठकों को बहुत जँची थीं। अपनी रचनाओं को छापे में देखकर लेखक को समाधान तो होता ही है, पर जब पाठक उन रचनाओं को पढ़कर भूम उठे तो लेखक को अच्छा लगता है—उसने अपने दाम भर पाए। खेद केवल इस बात का है कि खरीदकर पुस्तक

पढ़नेवालों की संख्या हमारे देश में दुर्भाग्यवश अधिक नहीं। अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन और रूसी पुस्तकें लाखों की संख्या में छापी और पढ़ी जाती हैं। परंतु हिंदी पुस्तकों के संस्करण दो या तीन हजार प्रतियों में ही सीमित रह जाते हैं। इसी कारण हिन्दी का साहित्यकार अपनी लेखनी के भरोसे जीवित नहीं रह सकता। केवल साहित्य के भरोसे उसका निर्वाह नहीं होता। यह लेखक का—हिंदी लेखक का और हमारे देश की अन्य भाषाओं के लेखकों का भी—दुर्भाग्य है। फिर भी बेचारा लिखता है और, जैसे भी उससे बन पड़े, साहित्य की सेवा करता है, जिसके लिए वह सराहनीय तथा सहानुभूति-पात्र है। जब तक सुशिक्षित वर्ग का दायरा ज़ोरों से विस्तार पाकर अपने अंतर्गत छोटे-छोटे शहर और गाँव भी न ले लेगा, और जब तक हमारे पाठक, हजारों की नहीं, लाखों की संख्या में पुस्तकें ख़रोदकर पढ़ना न शुरू करेंगे तब तक हमारे लेखकों को सच्चा प्रोत्साहन न मिलेगा, और तब तक सच्चे और खुले दिल से कोई साहित्य-प्रेमी, कोई साहित्यकार साहित्य-सेवा करने में सम्पूर्णतः सफल न हो पाएगा। ख़ाली पेट साहित्य-सेवा नहीं बनती। ख़ाली पेट कुछ नहीं बनता। यह सब मैं एक साहित्यकार होने के नाते ही कह रहा हूँ। और यह सब कहने का मुझे हक़ है।

यहाँ तक तो मैंने साहित्य और साहित्यकारों के पक्ष में कहा है, और कहना चाहिए ही था। अब एकाध बात कड़ुई भी कहने को मैं बाध्य हूँ, जिसका मुझे खेद है।

चित्र निर्माता की हैसियत से मैं पिछले कई वर्षों में कई

साहित्यकारों के सम्पर्क में आया। अपने उपन्यास और लघु-कथाएँ ले-लेकर मरे पास कई लेखक आए। उनकी रचनाओं में एक बात मैंने अक्सर ही देखी। उनकी रचनाएँ यथार्थ से, सत्य से बिलकुल ही हटकर, केवल कल्पना के वशीभूत होकर गढ़ी हुई अधिकांश झूठी कृतियाँ ही थीं। इनमें बहुत-से साहित्य-कार—जिनमें कई तो नामी बताए जाते हैं—अधपढ़े-लिखे हैं। मैं उन्हें अधपढ़े-लिखे (Pseudo Intellectual) ही कहूँगा। कॉलेज तक इनमें से कम ही पहुँचे। एक पाँव अगर किन्हींने कॉलेज में रखा भी तो दूसरा पाँव कॉलेज के बाहर ही रहा। कॉलेज तक जो व्यक्ति न पहुँचा हो उसे प्रायः खाना, पहनना, बोलना, और व्यवहार बराबर नहीं आता और उसका परिचय, उसका अनुभव सुशिक्षित और सम्य सम्राज के एक विशेष अंग से बहुधा वंचित ही रह जाता है। विश्व-विद्यालय की डिग्री अगर इन लेखकों को प्राप्त नहीं तो न सही (यह डिग्री ही सब कुछ नहीं है), पर जीवन-विद्यालय की डिग्रियाँ भी इनके पास नहीं। दुनिया के सारे महान् कहानी-लेखक—मोपासाँ, बालज़क, टॉलस्टाय, शेकाव्ह, डॉस्टाव्हस्की, गोर्की, हेनरी जेम्स, किर्पलिंग, सॉमरसेट मॉम, रवींद्रनाथ ठाकुर, शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय, ओ० हेनरी, अरनेस्ट हेमिंगवे, आदि—डिग्रीयाप्रता नहीं हैं, पर वह समाज के हर पहलू से, हर अंग से, मानव-हृदय की हर भावना से भलीभाँति परिचित हैं, बड़े अनुभवी हैं, जीवन के विद्यालय से विद्या और अनुभव ग्रहण करके उत्तीर्ण हुए हैं; तभी महान् कृतियाँ देने में वह सफल हो सके, तभी तो सत्य की कसौटी पर परखने से उनकी

कहानियाँ सच्चे और विशुद्ध सोने की तरह चमकती हैं, तभी तो उनकी रचनाओं में अंकित विलक्षण पात्र और घटनाएँ देखकर पाठक उस यथार्थ में खो जाता है और उसका संवेदना सहित भरपूर मनोरंजन होता है।

हमारे लेखक, बहुधा, गाँव या शहर की उस तंग गली से जहाँ वह रहते हैं बाहर नहीं निकले और उन चार मित्रों की मंडली के सिवा जिनके साथ उनका नित्य का उठना-बैठना है, अन्य जनों से परिचित न हो पाए। तब भला उनकी कहानियों में संसार के विभिन्न पात्रों का चरित्र-चित्रण या जीवन की सच्ची भाँकी कैसे संभव होगी? हिंदी के एक साहित्यकार की एक रचना मुझे याद आ रही है। उसने अपने उपन्यास के नायक को बम्बई के ताजमहल होटल में ले जाकर, उसके हाथों में काँटा-छूरी पकड़वाकर, उसे वहाँ 'लंच' खिलवाया। उसने उस होटल का सारा वातावरण भद्दा और भूठा चित्रित किया। उसे इसके लिए क्षमा किया जा सकता है। पर जिस बात के लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता वह यह है कि उसने नायक के दाहिने हाथ में काँटा और बाएँ में छूरी पकड़ाई? टेबल पर पाश्चात्य ढंग से खाते समय छूरी दाहिने हाथ में होनी चाहिए और काँटा बाएँ में ही। पर उस साहित्यकार को क्या पता। ताजमहल होटल का या टेबल पर खाने का उसे अनुभव नहीं। यहाँ मुझे एक और हिंदी के प्रतिष्ठा प्राप्त कहानीकार की 'शिकार' शीर्षक कहानी याद आती है, जिसमें वह शिकार जैसे विषय से सर्वथा अनभिज्ञ, एक चीते से मनुष्यवत् हरकत कराते हैं, और एक युवती से, जिसने जीवन में कभी बंदूक न चलाई थी,

चीते को रिव्हॉल्वर द्वारा खत्म करारते हैं। उस चीते के प्राण राइफल की गोली से नहीं, पिस्तौल (या रिव्हॉल्वर) की गोली से निकल जाते हैं ! वैचित्र्य की पराकाष्ठा है पर यथार्थता की गर्दन मरोड़ी गई है ! ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि लेखक को शिकार का अनुभव नहीं। जब अनुभव ही नहीं तब वह अपनी रचना में ऐसे स्थान का, ऐसे पात्र और ऐसी घटना का उल्लेख ही क्यों करता है जिससे वह सर्वथा अपरिचित है ? यही मेरी शिकायत है। ऐसे ही साहित्यकारों को मैं अधपढ़े-लिखे कहता हूँ। विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ अनिवार्य नहीं, पर जीवन-विद्यालय की डिग्रियाँ तो हों उनके पास। तभी तो कुशल लेखक गाल्सवर्दी ने कहीं कहा है कि अट्ठाईस वर्ष की आयु तक लेखक होने का महत्वाकांक्षी कुछ भी लिखने का प्रयत्न न करे, केवल जीवन के हाट से गुजरता हुआ अनुभव-उपार्जन करे। सत्य ही कहा है। जो साहित्यकार जीवन के हाट से न गुजरेगा और जो अपने घर के छपरे में बैठा-बैठा केवल कल्पना के आधार पर पन्ने घसीटता जाएगा, उसकी कृतियाँ—उसके अनुभवहीन और संकुचित मस्तिष्क की उपज—नितान्त भूठी, भद्दी और गलत होंगी।

बहुतेरे साहित्यकार अपना ही जीवन—जिससे वह अपने को भलीभाँति परिचित समझते हैं—अपनी कहानी में अंकित करते हैं। कथानक यद्यपि सही और वास्तविक बन जाता है, उसमें दम नहीं होता, उसमें जान नहीं होती, और कथावस्तु का तो उसमें नामोनिशान तक नहीं मिलता। प्रत्येक व्यक्ति की जीवनी एक कहानी अवश्य है, परन्तु बहुधा ऐसी कहानियाँ

बहुत ही साधारण-सी और गौण कहानियाँ ही होती हैं— क्योंकि औसत व्यक्ति का जीवन सामान्य जीवन ही होता है। अच्छी कहानी असामान्य और असाधारण होनी चाहिए। असाधारण पात्र और असाधारण घटना से ही कथानक में अभिनवता आती है, वैचित्र्य उत्पन्न होता है; और फिर अगर लेखक के पहलू में दिल हुआ, उसके मस्तिष्क में अनुभूति तथा कल्पना हुई और लेखनी में जोर हुआ तो कहानी भी अच्छी ही बनेगी। इसके अतिरिक्त कहानी में 'वह कुछ' भी होना आवश्यक है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जिसके लिए शब्दकोष में कोई शब्द नहीं, परंतु जिसके होने से कहानी में चार चाँद लग जाते हैं, कहानी महान् बन जाती है, पाठकों का वह अपूर्व मनोरंजन कर पाती है और विश्व-साहित्य में उसे स्थान प्राप्त होता है।

तो, ऐसे साहित्यकारों को—जो अपने पात्रों से काँटा-छुरी उलटी तरह पकड़वाते हैं और जो नवीन और निराला ही नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक और अल्ट्रा मॉडर्न होने का स्वाँग रचते हुए अपनी नायिकाओं का, बिना कारण, घर के अंदर, घर के बाहर और रेलवे प्लेटफॉर्म पर, चीर-हरण किया करते हैं—मुझे उनकी कृतियाँ अस्वीकार करके दुःखपूर्वक उन्हें निराश ही करना पड़ा। उनकी कृतियाँ फ़िल्म के उपयुक्त न थीं। मैं उन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने के योग्य भी नहीं समझता। पर लेखक का दिल भी तो तोड़ा नहीं जा सकता। उसकी रचना है। उसने उसे पुस्तक का रूप दे दिया। और दे भी क्यों न? 'साहित्यकारों' की मित्र-मंडली का एक गुट उसने पहले ही से

सधाकर तैयार किया हुआ था, जिसका मुख्य मंत्र होता है : 'मैं तुझे महान् कहूँ तो तू मुझे महान्तम कह, तू मुझे पीर कहे तो मैं तुझे खुदा कहूँ।' बस, फिर यह 'साहित्यकार' अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनकर परस्पर एक दूसरे को आदरणीय, श्रद्धेय, देवतुल्य, उपन्यास सम्राट्, कहानी सम्राट्, जगप्रसिद्ध आदि बताकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा-चढ़ाकर साहित्यिक अखाड़े में कूद खम ठोंका करते हैं। यह कुश्ती नहीं हुई, भूठी और भद्दी भिड़ंत हुई, लोगों के साथ छल और कपट हुआ। बेचारे दर्शक (पाठक) नहीं जान पाते कि जोड़ियाँ आपस में मिली हुई हैं।

हिंदी अभी बन रही है। हिंदी का नया साहित्य नया खून माँग रहा है। इस नए साहित्य का निर्माण आज के वह स्वतंत्र नवयुवक लेखक ही करेंगे जो समस्त विश्व में सर उठाकर बेधड़क, बेभिन्नक विचरना जानते हों; और जो प्रांतीय संकीर्णता और सांस्कृतिक रूढ़िवादिता तथा दलबंदी के बंधनों से मुक्त होकर हर प्रांत, हर देश, और हर संस्कृति में सत्य और सौन्दर्य देखने की क्षमता रखते हों—ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं जानता हूँ यह प्राक्कथन पढ़ने के बाद मेरे कुछ साहित्यकार भाई और उनके कुछ समालोचक मित्र इन कहानियों की नोंच-खरोंचकर धज्जियाँ उड़ाने के लिए ऐसे टूट पड़ेंगे जैसे गिद्ध टूट पड़ते हैं। परंतु मैं यह भी जानता हूँ कि गिद्ध सड़ी, गली और निर्जीव लाश पर ही टूटते हैं; सजीव, स्वस्थ और सबल प्राणियों को नोचने-खरोंचन का दुःसाहस वह नहीं करते।

तो हाँ, मेरा यह कहानी-संग्रह पाठक के सामने है। इस संग्रह में बारह कहानियाँ हैं। संग्रह के नाम के सिलसिले में जब मैंने मित्रों से राय ली तो एक ने कहा: "नाम 'नागिन' और

बुलबुले' ही उपयुक्त है, क्योंकि इस संग्रह में बहुत-सी कहानियाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धी हैं; और स्त्रियाँ जहरीली नागिनें तो पुरुष पानी के बुलबुले हुआ करते हैं।" मैं उस मित्र की राय से सहमत नहीं। स्त्रियों को मैं नागिनें नहीं समझता, और न पुरुषों को बुलबुले। मैंने स्त्रियाँ देखी हैं; और बहुत पास से देखी हैं। पुरुष भी देखे हैं। अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष देखे हैं; अनेक स्थान पर, अनेक स्थिति में, अनेक रंग में, अनेक 'मूड' में देखे हैं। उनका परस्पर मोह, मत्सर, क्रोध, आनंद, त्याग, कपट, मेल-मिलाप और संघर्ष देखा है—जिसका दूसरा नाम जीवन है। जीवन से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है—हर लेखक का होना चाहिए—और यह सारी कहानियाँ जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि पर ही हैं। कहानी-संग्रह का नाम 'नागिनें और बुलबुले' इसलिए मैंने उपयुक्त समझा कि यही नाम संग्रह में एक कहानी का भी है और फिर यह नाम मुझे विशेष अच्छा भी लगा। यह कहानी इस संग्रह में पहली है। इसका अर्थ यह नहीं कि संग्रह की यह श्रेष्ठ कहानी है। मुझे स्वयं 'चाय', 'ठंडा पसीना', 'धुएँ की लकीर', 'लहू के धब्बे', 'नीली-नीली तितलियाँ' और 'टेलीफ़ोन पर'—इसी क्रमानुसार—अधिक पसंद हैं। अन्य कहानियाँ भी मुझे पसंद हैं वरना मैं उन्हें संग्रह में कदापि स्थान न देता। फिर भी लेखक की पसंद पर आप न जाएँ—क्योंकि, औरों की तरह ही, लेखक के सीने में भी दिल जैसी एक चीज़ होती है जो कभी भी निष्पक्ष, निर्लिप्त और निर्विकार नहीं।

सो, मेरी यह कहानियाँ पाठक स्वयं पढ़ें और स्वयं उनका मूल्यांकन करें।

नागिनें और बुलबुले

“जाओ न, जल्दी से नहा लो। वह लोग आते ही होंगे,” कुसुम ने पति से कहा।

पलंग पर औंधे पड़े हुए मनोहर ने आँखें खोल दीं और जमुहाई लेता हुआ वह उठ बैठा। देखा, पास ही ड्रेसिंग टेबल के सामने बैठी हुई कुसुम बाल सँवार रही थी। “जल्दी क्या है? अभी तो सात भी नहीं बजे,” उसने कहा।

“अच्छे आदमी हो! लोगों को आठ बजे खाने के लिए पार्टी पर घर बुलाया है और साहब खुद साढ़े सात बजे तक सोए पड़े हैं!”

“साढ़े सात? क्या अभी साढ़े सात बज रहे हैं?” मनोहर हड़बड़ाकर पलंग से उतर पड़ा।

“साढ़े सात ही समझो। सात बजकर बीस मिनट हो रहे हैं,” कुसुम ने मुस्कुराकर कहा और शीशे में मनोहर को देखने लगी।

मनोहर शीशे के पास आया। जवाकुसुम का लाल सुगंधित तेल कुसुम बालों में मल रही थी पर उसकी आँखें पति को ताक रही थीं। कुसुम जब कभी अपनी गोरी हथेली में लाल जवाकुसुम उँडेलकर बालों में लगाती, मनोहर के दिल की धड़कनों का वेग बढ़ जाता। और फिर आज तो सुबह ही से झड़ी लगी हुई थी।

रह-रहकर बादल गरज रहे थे। बिजली चमक रही थी। आज सारा दिन मेंह बरसा किया। सारा दिन ही अँधरा-अँधेरा सा रहा, गीला-गीला सा। बड़ा अच्छा रहा आज सारा दिन ही। काश, हर छुट्टी का दिन ऐसा ही हो! और अब जो उठकर मनोहर नहाने जा रहा था तो कुसुम बालों में तेल लगाने लगी। गर्दन कुछ टेढ़ी-सी करके दसों उँगलियों से जब वह अपने बालों को छेड़ती तो ऐसा लगता कि सर से लिपटी हुई बेशुमार काली-काली नागिनें जागकर फुफकारने लगी हैं, उसकी गोरी-गोरी उँगलियों को डसने लगी हैं। उँगलियों और नागिनों की छेड़ ज्यों-ज्यों बढ़ती, कलाइयों में पड़ी हुई चूड़ियाँ उतनी ही तीव्रता से खनखनाने, भनभनाने, गुनगुनाने लगतीं, मानो दर्जनों बीन एक साथ बज रही हों।

“क्या देख रहे हो? जाओ न, नहा कर तैयार हो जाओ।”

“मैंने कहा अभी तो बहुत देर है, मेमसाहब। अभी तो आठ बजने में वक़्त है। जब तक टब में पानी भरता है, मैं तुम्हारे पास बैठकर एक सिगरेट पी लूँ।”

“तुम जाते हो या नहीं—” कुसुम ने पास में रखे हुए ग्लास का सारा पानी मनोहर पर छिड़क फेंका। मनोहर हँसने लगा। “जाओ न, क्या घूर रहे हो! जाओ, मैंने टब भर दिया है।”

मनोहर हँसता हुआ बाथरूम में चला गया। और फिर टब के पानी की छप-छप और शावर की छर-छूँ शुरू हो गई।

मनोहर जब नहाता तो बाथरूम में प्रलय मचा देता। सुर की परबह न ाकरता हुआ गुनगुनाता, मींड लेता और सम

पर आकर जो थाप मारता, तो टब के पानी में बड़ा भारी बुल-बुला पैदा कर देता। फिर समूचा डूब जाता और बुलबुले ही बुलबुले तैरते दिखाई देते। बाहर निकलकर बदन पर जोरों से साबुन मलता और खूब पानी उछालता। साबुन के फेन के गुब्बारे हर तरफ उड़ने लगते। फर्श, दीवार और छत साबुन, पानी के फेनिल छींटों से गीले हो जाते और फिर बड़ी देर तक छत से एक-एक वूँड़ करके पानी टपकने लगता; चिकनी दीवारों पर बहते हुए पानी के छोटे-बड़े धूधिया मोती पतली, मोटी लकीरें बनाने लगते; और फर्श के सफेद चिकने टाइल पर सर्वत्र फैला हुआ पानी कभी-कभी तो लहरें मारने लगता। “तुम इतने बड़े मजिस्ट्रेट हो पर तुम्हें नहाना न आया! भगवान जाने अदालत में क्या न्याय करते होगे!” कुसुम अक्सर कहा करती।

“सारा फ्रैसला तो मैं बाथरूम के इसी टब में बैठे-बैठे लिखा करता हूँ,” हँसकर मनोहर उत्तर देता। “जितना संगीन या पेचीदा केस होता है, नहाने में उतना ही ज्यादा वक़्त लगता है।”

“मगर साबुन के यह बुलबुले क्यों उड़ते हो जिधर-उधर?” वह पूछती और उसे ताकने लगती। उसी तरह ताकने लगती जिस तरह शीशे में वह उसे ताक रहा था जब वह सर पर लिपटी हुई नागिनों को जगा रही थी और जब उसने ग्लास का ठंडा पानी उस पर छिड़क फेंका था। सच बात यह थी कि मनोहर का इस मस्ताना तौर से नहाना कुसुम को उतना ही अच्छा लगता था जितना कुसुम का बाल सँवारना मनोहर

को सुहाता था। नहाने और बाल सँवारने की दोनों की अपनी-अपनी अदा थी। दोनों पिछले सात साल से—जब से उनकी शादी हुई है—एक दूसरे की अदा पर फ़िदा थे।

नहाकर, बदन पर तौलिया लपेटे, जब मनोहर कमरे में आया तो कुसुम साड़ी पहन रही थी। बड़ी देर से वह साड़ी बाँध रही थी पर उससे बराबर बँध नहीं रही थी। स्नानागार के अधखुले दरवाज़े से आती हुई छप-छप-और छर-छरूँ उसके साड़ी बाँधने में बाधा डाले जा रही थीं।

“लाओ, मुझे कुरता, पाजामा दो—” मनोहर ने कहा—
“ओह! आठ बजनेवाले हैं! लोग आते ही होंगे। क्या बात है? जल्दी करो—तुम इस तरह क्यों घूर रही हो?”

“बाथरूम में बदन तो पोंछ लिया करो बराबर। देखो, यहाँ भी पानी छिड़क रहे हो। पानी उड़ाने की तुम्हारी आदत न गई अब तक,” कुसुम ने मुस्कराकर शिकायत की।

“लाओ, मेरे कपड़े लाओ। ओह! ठंड लग रही है!”

“ठंड नहीं लगेगी? तुम भी ऐन दरवाज़े के सामने खड़े हो!” कुसुम ने कहा और जल्दी से जाकर दरवाज़ा बन्द कर आई।”

आग लमने पर जिस तरह पटाखोंवाली छछंदर सुर से छूटती है और थोड़ी दूर जाकर लौट आती है और फिर पावों के अतराफ़ घूमने लगती है, ठीक उसी तरह कुसुम के हाथ पर से लटका हुआ साड़ी का आधा हिस्सा, फ़र्श पर फिसलता हुआ, खिँचकर दरवाज़े तक गया और उसी के साथ लौट आया, फिर पाँवों के चारों ओर सौ शिकन खाकर फैल गया।

“मेरे कपड़े तो दो। वह लोग आते होंगे। मेरी बनियान कहाँ है?” मनोहर ने उतावली करते हुए पूछा।

“देती हूँ, देती हूँ, इतनी जल्दी क्यों मचा रखी है? अभी तो आठ बजने में वक्त है।” कुसुम ने फिर मनोहर को ताका। उसी शीशेवाली निगाह से। “न जाने यह साड़ी क्यों नहीं बँध रही है बराबर। दस मर्तबा बाँधी होगी तब से—मगर—मगर—न जाने जमती ही नहीं।”

शीशेवाली निगाह असर कर गई थी। मनोहर उसे ताक रहा था। साड़ी के साथ कुसुम की उलझन देख रहा था। वह मुस्कुराने लगा।

“मैं बताऊँ क्यों नहीं जम रही साड़ी?”

बाहर बिजली चमकी। बिजली की चकाचौंध में कुसुम ने सर उठाया और मनोहर को कनखियों से ताक कर पूछा : “बताओ, क्यों?”

और तब आकाश में बड़े जोर का धमाका हुआ। घर के खिड़की-दरवाजे फड़फड़ा उठे और पानी मूसलाधार बरसने लगा।

चाय

बरसों बाद आज मैं अपने गाँव जा रहा था। बारह बरस बाद। पूरा एक युग बीत गया ! और इस बीच कितना कुछ परिवर्तन हो गया। परिवर्तन मुझमें भी हुआ है। अब मैं पन्द्रह साल का अबोध, मनचला और लापरवाह बालक नहीं; अब तो मैं पढ़-लिखकर सम्य हो गया हूँ, विलायत से काम-काज चलाने का तरीका सीख आया हूँ। पूरा साहब बन गया हूँ और किसी भी अंश में देहाती न रहकर पक्का शहरी बन गया हूँ। पक्का बम्बईवाला।

इन बरसों में मुझे गाँवकी याद कई बार आई और बहुतेरा जी किया कि एक बार बेलपुर हो आऊँ परकभी अवकाश न मिला। आज सुबह जब मैं फ्रिट्जर मेल से रात भर का सफ़र करके बेलपुर स्टेशन पर उतर पड़ा तो सहसा ज्ञात हुआ कि बेलपुर पहुँचना इतना दुष्कर कभी न था जितना कि मैं समझा हुआ था। शाम को बॉम्बे सेंट्रल स्टेशन पर गाड़ी में सवार हो जाओ, तो घंटे भर बाद भूख लग आती है। खाने के बाद चलती गाड़ी में मुझे नींद ज़ोरों की आती है। सुबह आँख खुली तो गाड़ी बेलपुर स्टेशन पर खड़ी हुई पाता हूँ। यानी बम्बई और मेरे गाँव के बीच फ़ासला सिर्फ़ एक नींद का था।

गाड़ी से उतरकर मैंने देखा, वही पुराना छोटा-सा स्टेशन था जहाँ मैं अक्सर अपने सहपाठी, गोविंद, के साथ कभी आया

करता था। गोविंद का बाप यहाँ पर सिगनल-मैन था। गाँव यहाँ से मील भर दूर पहाड़ी की ढालपर बसा हुआ था। कुली के सर पर सामान देकर मैं स्टेशन से बाहर हो गया। गाड़ी से मैं ही एक यात्री उतरा था। स्टेशन के कर्मचारी मुझे घूर रहे थे। आज भी शायद इस जंगली गाँव में कोई सभ्य पुरुष नहीं आता-जाता।

स्टेशन से कोई एक फ़र्लांग दूरी पर वही डाकबँगला था जहाँ जामुन तोड़ने हम लोग आया करते थे। कुली को लिए मैं डाकबँगले पहुँचा। बूढ़ा माली मुझे न पहचाना।

“कहो, गंगाराम, अच्छे तो हो?” मैंने उसे देखकर पूछा। माली तम्बाकू फाँक रहा था। चौक पड़ा।

“जी, सरकार,” मुझे दोनों हाथ जोड़े उसने उत्तर दिया।

“तुमने मुझे नहीं पहचाना?”

“नहीं, सरकार; आँख में कुछ कम दीखता है। आप तहसीलदार साहब तो नहीं?”

“मैं जगदीश हूँ। भूल गए? इसी गाँव में रहा करता था। वह देखो, वह स्कूल के बाजू में हमारी हवेली थी। गोपालदास ठेकेदार तो याद हैं?”

“हाँ, हाँ, जो जंगल का ठेका लिया करते थे?... कौन... जग्गू भैया?”

“हाँ, मैं वही जग्गू हूँ।”

माली विस्मित आँखों से मुझे घूर रहा था। लपककर उसने मेरे हाथ से अटैची ले ली और कुली के सर पर से सूटकेस, बिस्तरा आदि उठा लिया। “कित्ते दिन हो गए, भैया !

बड़ा अच्छा हुआ जो मुलाकात हो गई। जिन्दा हूँ तो तुम्हें आज देख लिया। मेरे साथवाले तो एक-एक करके सब चल दिए !
कहाँ से आ रहे हो, भैया ?”

“बम्बई से।”

कुली आँखें फाड़े हमारी बातें सुन रहा था। मैंने उसे पैसे दिए और वह मुड़-मुड़कर मेरी ओर देखता हुआ चला गया।

“जब से आप लोग बम्बई गए, फिर कभी बेलपुर आना नहीं हुआ। ठेकेदार साहब के गुजर जाने के बाद यहाँ रखा भी क्या था। आपके चचा—क्या नाम—रामदास अच्छे तो हैं ?”

“हाँ, सब कुशल है।”

“वह भी क्या वहाँ बम्बई में ही रहते हैं ?”

“हाँ, वहीं पर हमारा बड़ाभारी कारखाना है।”

“चलो अच्छा है; भगवान सुखी रखे। पढ़-लिख कर तुम कहाँ से कहाँ पहुँच गए, भैया ! हमारे गाँव से बस एक तुम ही निकले, बाकी तो सब पीछे ही रह गए। आज यहाँ कैसे आना हुआ, जग्गू भैया ?”

“योंही। गाँव देखने को जी करता था बहुत दिनों से, सो चला आया,” मैंने कहा और मैं कपड़े उतारने लगा। जी चाहता था ठंडे पानी से खूब नहाऊँ।

“अच्छा किया,” माली ने कहा। “तुम्हें देखकर गाँववाले बड़े खुस होंगे।”

गंगाराम हँसता हुआ कमरे के दरवाजे, खिड़की खोलने लगा।

“क्या बात है, गंगाराम, तुम हँस क्यों रहे हो ?” मैंने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

“पुरानी बात याद आ गई, भैया. . . . ‘तुम्हें याद है, एक दिन जब तुम लोग डाकबैंगले की दीवार फाँदकर जामुन तोड़ने आए थे?—तुम, गोविंद, सिवजी और वह छोकरी मूंगा—और मैंने तुम सबको पकड़कर इस (स्नानघर की ओर इशारा करके) कोठरी में बंद कर दिया था?”

“खूब याद है, गंगाराम।” मैं भी हँसने लगा। “मगर हमने भी तुम्हें खूब चकमा दिया था। बंद कमरे से भाग निकले थे हम लोग; और तुम समझे कि हम अंदर ही बंद हैं।”

“हाँ, भैया, बड़ा धोखा खाया उस दिन मैं। पर यह तो बताओ, तुम लोग निकल कैसे भागे? रोसनदान तो बड़ी ऊँचाई पर था।”

“मूंगा की ओढ़नी काम आई थी उस दिन। ओढ़नी रोशनदान में अटकाकर हम लोग ऊपर चढ़ गए और फिर उसी ओढ़नी से लटककर नीचे कूद पड़े। मूंगा तो बड़ी हो गई होगी अब?”

“हाँ, बड़ी नहीं होगी? एक बच्चे की माँ है। अभी तो कुछ दिन रहोगे तुम यहाँ?”

“नहीं, गंगाराम, मैं शायद आज ही शाम की गाड़ी से वापस चला जाऊँगा। नहाने के लिए पानी मिलेगा?”

“जरूर मिलेगा, भैया। तुम कपड़े उतारो, तब तक मैं कुएँ से बालटी में पानी भर लाता हूँ।”

गंगाराम डोल, बालटी लेकर बाजू के कुएँ पर चला गया।

थोड़ी देर बाद नहाकर जब मैं स्नानघर से बैठक के कमरे में आया तो देखता हूँ कुरसी पर स्टेशनमास्टर की वरदी पहने

कोई बैठा है जो मुझे देखते ही उठ खड़ा हुआ। हमारी आँखें चार हुईं।

“जगू!” कहता हुआ वह लपककर मेरी ओर बढ़ा।

“गोविंद!” मैं बोल उठा।

हम दोनों बड़े तपाक से गले मिले।

“हमाल ने आकर मुझे खबर दी कि तुम आए हुए हो और डाकबँगले में ठहरे हो। सुनते ही मैं दौड़ा चला आया। कहो, अच्छे तो हो, जगू?”

मजे में हूँ। और तुम क्या यहीं हो?”

“स्टेशनमास्टर हूँ—यहीं बेलपुर स्टेशन पर। बड़ी खुशी हुई तुम्हें देखकर।”

“मुझे भी। देखो मैंने तुम्हें पहचान लिया न, गोविंद? कितनी अजीब बात है, पिछले महीने या गए हफ्ते देखे-मिले लोग मुझे याद नहीं रहते लेकिन बचपन की देखी-भाली सूरतें खूब याद हैं।”

“ठीक कहते हो, जगू। बचपन की बातें भुलाई नहीं जा सकतीं। अच्छा, यह तो बताओ कैसे आना हुआ और कब तक रहोगे?”

“गाँव देखने को जा रहा था, तुम्हीं सब लोगों से मिलने के लिए चला आया हूँ। शामकी गाड़ी से वापस चला जाऊँगा। लो, सिगरेट लो। बैठो न, गोविंद।”

कमरे में दो ही कुरसियाँ थीं, जिनपर धूल की तह जमी हुई थी। गोविंद ने जेब से रुमाल निकालकर कुरसियाँ झाड़ीं और फिर हम लोग बैठ गए। मैंने गोविंद की और अपनी सिगरेटें

सुलगाईं। गोविंद को सिगरेट पीना नहीं आता था, पर वह पीए जा रहा था।

“क्यों, इतनी जल्दी क्या है वापस जाने की?” गोविंद ने पूछा। “इतने साल बाद तो आए हो। दो-चार रोज़ रहकर चले जाना। सबसे मिलोगे नहीं बराबर?”

“मिलूंगा तो सबसे। मैं यहाँ आया ही सबसे मिलने के लिए हूँ। पर ठहर नहीं सकता। शाम की गाड़ी से चला जाऊँगा। तुम एक काम करो, यार।”

“बोलो।”

“तुम आज के दिन छुट्टी ले लो। तुम्हें आज सारा दिन मेरे साथ रहना होगा।”

“उसकी फ़िक्र मत करो। मैं पहले ही अपने असिस्टेंट को चार्ज देकर आ रहा हूँ। मैं जानता था तुम आए हो—तुम्हें छोड़कर अपनी तबीअत काम में तो लगनेवाली है नहीं। अच्छा, यह तो बताओ, शादी-वादी की या नहीं? कितने बच्चे हैं?”

“अभी नहीं की शादी मैंने। अपनी सुनाओ।”

“अपना तो देहाती मामला है, यार।” गोविंद हँसने लगा। “तीन लड़के हैं और दो लड़कियाँ—आधा दर्जन में थोड़ी ही कसर है।”

गंगाराम अंदर आया और पूछने लगा कि खाने के लिए हलवाई के यहाँ से क्या बनवा लाए।

“यार गंगाराम, खाने की फ़िक्र तुम्हें क्यों पड़ी है?” गोविंद ने कहा। “मैंने घरवाली को ख़बर भेज दी है। खाने का डिब्बा यहीं भेज देगी। डिब्बा आ जाए, तो बस तू गरम करके

तैयार रखना, तब तक मैं जग्गू को गाँव घुमा लाऊँ। चलते हो न, जग्गू?, गाँव घुमा लाऊँ तुम्हें?"

"हाँ, हाँ, चलो तुम क्या समझे, मैं सारा दिन यहीं बैठा रहूँगा?" उठकर मैं कपड़े पहनने लगा।

"भई, जग्गू, सिगरेट पीने की मुझे आदत नहीं है," गोविंद खाँसता हुआ बोला, "तुमने दी तो ले ली, पर देखो न खाँसी आती है।"

तो फेंक दो न, क्यों पिए जा रहो हो?" मैंने मुस्कुरा कर कहा। गोविंद ने सिगरेट फेंक दी।

"अच्छा, बताओ तो, जग्गू," गोविंद ने कहा, "तुम्हें गाँव की बराबर याद भी है?"

"है क्यों नहीं।"

"जैसे?"

"जैसे—हमारा स्कूल... मेरा घर... घर के पीछेवाली दीवार पर हनुमानजी का वह बड़ा भारी चित्र—जिसे हीरालाल पेंटर ने बनाया था।

"यार, खूब याद है तुम्हें! और?"

"और—तुम्हारे घर की छपरी याद है, जहाँ हम लोग ताश खेला करते थे और जहाँ छिपकर मैंने पहली बार बीड़ी पी थी—सब कुछ याद है।"

गोविंद हँस रहा था।

"और लोग कौन-कौन याद हैं?"

"बहुतेरे याद हैं। तुम याद हो, नत्थू याद है—हाँ, नत्थू क्या करता है आजकल?"

“जेल में है।”

“क्यों?”

“महाजन ने उसे गहने बनाने के लिए कुछ सोना दिया था। उसने सोना चुराकर कड़ों में मिट्टी भर दी। पुलिस केस हुआ। साल भर से जेल में सड़ रहा है।”

“याद है, गोविंद? उसने स्कूल में भी एक बार चोरी की थी और—”

“और शिवराम मास्टर ने उसे खूब पीटा था,” गोविंद बोल पड़ा।

“तो तुम्हें भी याद है?”

“और?”

“और... महाजन की दोनों औरतें याद हैं, एक मोटी और दूसरी नाटी, जो रोज़ शाम को अपने आँगन में बैठकर ज़ोर-ज़ोर से भगड़ा करती थीं और गणेशजी की तरह चुप महाजन छपरी में भूला भूला करता था। और बताऊँ?... लँगड़ा बिसन याद है जो मंत्र फूँककर साँप काटे का ज़हर उतारा करता था—”

“मर गया बेचारा!”

“क्या हो गया था?”

“साँप काट खाया। कहने लगा खुद पर मंत्र नहीं चलता। बेचारा तड़प-तड़पकर मर गया।”

“बेचारा!”

“तुमने मूंगा का नाम नहीं लिया? क्या भूल गए मूंगा को?”

“नहीं, भूला नहीं। मूंगा भी याद है। कहाँ है वह आजकल?”

“यहीं है। तुम्हें ले चलूंगा उसके घर,” गोविंद ने कहा; फिर बोला: “न जाने मुझे क्यों लग रहा है कि गाँव देखने का तो वहाना है, असली में तुम अपनी मूंगा को देखने आए हो।”

मैं हँस पड़ा। “तुम भी यार, खामखाह तोहमत लगा रहे हो,” मैंने कहा।

“चलो चलें,” गोविंद बोला और उठकर खड़ा हो गया। “तुम्हें तो सब कोई याद हैं।”

“चलो,” मैंने कहा।

और फिर हम लोग गाँव की ओर पैदल चल पड़े।

गोविंद को साथ लिए बेलपुर गाँव की गलियों से जब मैं गुजरा, गाँव में बिताए हुए मेरे बचपन के सारे दृश्य, रात को पिछली पहर देखे हुए सपने की तरह, मेरी आँखों के सामने भूलने लगे। एक-एक घर और भोंपड़ी, एक-एक गली-कूचा मुझे याद हो आया। जिन लोगों को मैं भूल चुका था उन्हें भी सूरत देखकर पहचान गया। कई नाम अलबत्ता याद न रहे थे।

गाँववालों ने मेरी बड़ी आवभगत की। किसी ने तिल के लड्डू खिलाए, किसी ने सत्तू पिलाया, किसी ने पकौड़ियाँ तलकर खिलाईं, किसी ने अपनी बाड़ी से तोड़कर पपीता खिलाया—पेट भर गया। खाते-पीते सारी दोपहर वहीं गुज़र गई। गाँववालों के अतिथि सत्कार से पेट भर जाने पर हम लोग डाकबंगले वापस न लौट सके। एक छोकरे के हाथ गंगा-राम को ख़बर कर दी कि हम लोग शाम को ही लौटेंगे,

इसलिए वह हमारी राह न देखे, डिब्बे का खाना खुद खा ले।

शिवराम मास्टर का तक्काजा था कि थोड़ी देर उनके घर हम लोग आराम कर लें, पर मूंगा के घर भी जाना था। सुना, यहाँ से आधे मील पर, गाँव के बाहर, झील के किनारे उसके पति का पान का बगीचा था। वहीं पर उसका घर भी था जहाँ वह अपने पति और बच्चे के साथ रहा करती थी। शिवराम मास्टर के घर आधा घंटा बैठकर हम लोग उठ खड़े हुए। कभी मैं इन गुरुजी के रोब से थर-थर काँपता था; और आज वही डरावनी सूरतवाला शिवराम मास्टर, फटे चीथड़ों में अपनी टाँगें लपेटे, चारपाई पर असहाय पड़ा, बात से परेशान कराह रहा था। हम लोगों ने गुरुजी को नमस्कार किया और वहाँ से चल पड़े—पान के बगीचे की ओर।

गांव से बाहर निकलकर गोविंद ने पूछा : “याद है, जग्गू, यह नाला ? यह पुल ?”

“याद है,” मैंने कहा। “यहाँ से झील का रास्ता अब मुझे याद आ गया। इसी नाले में, इसी पुलिया के नीचे दुबककर तुम, मैं और मूंगा केकड़े पकड़ा करते थे। बड़ी शरीर थी मूंगा ! कितना भगड़ते थे हम लोग ! एक दिन न जाने किस बात पर भगड़ा हो गया। उसने मुझे पानी में धकेल दिया। पानी क्या कीचड़ था—वह देखो पुलिया के नीचे—अभी भी वही बात है। मुझे भी ताव आ गया और मैंने भी उसे कीचड़ में खींच लिया। पुलिया के नीचे, उस अँधेरे घुप्प में, घुटने भर कीचड़ में हमारी झकझोर हुई और तब उसने मेरे पुट्टे पर कसकर

काट खाया। मैं चीख पड़ा और खिलखिलाती हुई वह भाग निकली थी। यार, अब तक निशान है !”

गोविंद हँस पड़ा।

“मूंगा ने तुम्हें निशानी तो खूब लगाई,” उसने कहा।

“क्या उम्र होगी उसकी अब ?” मैंने पूछा।

“पहले की उम्र में बारह साल और जोड़ दो।”

“उस वक़्त तेरह, चौदह की रही होगी मूंगा”

“पच्चीस के लगभग होगी अब।”

“और तुम कहते हो एक ही बच्चा है उसके ?

“मूंगा का यह दूसरा पति है। पहला पति ब्याह के बाद ही हैजे से मर गया। पति के मरने पर मूंगा अपने बाप के घर बेलपुर लौट आई। छः, सात साल तक वह विधवा बनी रही। रावजी को तो तुम जानते होगे—जिसके बाप के गन्ने के खेत थे ? याद नहीं आता ? गन्ने चुराने हम लोग गन्ने की बाड़ी में नहीं घुसा करते थे ?”

“रावजी... वह तो नहीं जो कानों में बड़े-बड़े बाले पहना करता था ? महाजनवाले कुएँ की जगत पर बैठकर आड़ी बाँसुरी बजाया करता था ?”

“हाँ, हाँ, वही छैला। वही है रावजी। तुम जानते हो, कुएँ की जगत पर बैठकर वह क्यों बाँसुरी बजाया करता था ?”

“जानता हूँ।”

“क्यों ?”

“क्योंकि मूंगा उसी कुएँ पर पानी भरने आया करती थी।”

“तुम्हें तो सब याद है। हाँ, तो जब रावजी का बाप मर

गया तो उसके गन्ने के वह खेत बिक गए। फिर रावजी ने मूंगा के बाप की साभेदारी में पान का बगीचा लगाया। इसी बीच मूंगा का बाप मर गया। पान से आमदनी अच्छी थी। मूंगा जानती थी बिना पैसों के बगीचा नहीं चल सकता। सहायता के लिए वह महाजन के पास गई। महाजन के विलासी स्वभाव को तो तुम जानते ही होगे। घर पर दो स्त्रियाँ थीं, पर फिर भी पंडित रामकिशन की बहन को उन्होंने रखा हुआ था। मूंगा की सहायता के लिए वह बड़े ज़रूर मगर अपनी शर्त के साथ। शर्त को मंजूर करना तो दूर रहा, मूंगा ने सब के बीच चौक में महाजन के मुँह पर कसकर तमाचा मारा और चुन-चुनकर सुनाई, महाजन महीना भर घर से बाहर नहीं निकला था।”

“फिर क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“फिर रावजी आकर मूंगा को अपने घर ले गया और—
फिर—फिर मूंगा ने उससे शादी कर ली।”

“कितने साल हुए इनकी शादी को?”

“शादी को साल तो चार, पाँच हो गए, पर मूंगा को अब तक कोई बच्चा नहीं हुआ था, इसी साल हुआ है। क्यों, तुम चलते-चलते रुक क्यों गए? क्या देख रहे हो?”

मैंने आगे की ओर हाथ दिखाकर पूछा: “पान का बगीचा यही है ना?”

“हाँ,” गोविंद ने उत्तर दिया, “और बाजू में नीम के नीचे वह जो दिखाई दे रहा है, वही है रावजी और मूंगा का घर। आओ देखें, तुम्हारी यहाँ क्या खातिर होती है। देखें मूंगा को तुम याद भी हो या नहीं।”

“अगर मुझे भूल भी गई हो तब भी चाय तो पिलाएगी ही,” मैंने कहा।

“और अगर तुम्हें भूली न हो तब ?” गोविंद ने शरारतन पूछा।

मैं हँस पड़ा। गोविंद भी हँस दिया। मगर हमारी हँसी की हलकी आवाज़ को सामनेवाले घर के आँगन में हमारे स्वागतार्थ भौंकते हुए कुत्ते ने दबा दी।

आँगन में पहुँचते ही कुत्ता चुप हो गया और दुबककर घर की सीढ़ियों के पास बैठ गया। गोविंद ने रावजी को पुकारा, मूँगा को भी आवाज़ दी पर अन्दर कोई न था। छपरी में काठ का एक रंगीन पालना रखा हुआ था। सुन्दर काठियावाड़ी पालना। मैंने भाँककर देखा उसमें दुबका हुआ सात, आठ महीने का प्यारा शिशु निश्चित सो रहा था।

“शायद बगीचे में हों,” गोविंद ने अनुमान लगाया।
 “तुम यहीं ठहरो, जगू, मैं उन्हें बुला लाता हूँ।”

गोविंद बगीचे की ओर रावजी और मूँगा को ढूँढ़ने चल दिया। इतनी दूर धूप में चलकर आने के कारण मुझे प्यास लग रही थी। जी हुआ अन्दर जाकर मटके से ग्लास भर पानी ले लूँ, पर ऐसा करना अनुचित था। किसी के घर घुसना ठीक नहीं। अचानक मेरी दृष्टि आँगन के दूसरे छोर पर पड़ी, जहाँ केले के पेड़ों के बीच एक कुआँ था। पेड़ों के बाजू में साग-भाजी लग रही थी। कुएँ की जगत पर डोल पड़ा हुआ था। पानी पीने के लिए मैं कुएँ पर चल दिया। कुएँ पर पहुँचकर मैंने ज्योंही डोल उठाया, डोल की खनखनाहट से चौंककर, जगत की आड़ में

स्नान करती हुई युवती “कौन है?” कहती हुई उठ खड़ी हुई।

युवती मूंगा थी। मैं पहचान गया मूंगा को। तीसरे पहर की धूप में, गीली धोती में लिपटी हुई, वह मेरे सामने खड़ी थी। वही गोरा बदन ! वही उसकी चपल आँखें ! गीला कपड़ा उसके बदन पर जगह-जगह चमड़ी से चिपका जा रहा था। बारह बरस पहले की वह अल्हड़ छोकरी इस समय मेरे समक्ष, मेरे इतने पास, यौवन के संपूर्ण उत्थान में खड़ी हुई मुझसे पूछ रही थी : “कौन हो ?—कौन हो तुम ?”

मैंने सर पर से टोप हटाते हुए कहा : “मैं हूँ, जगदीश—जगू... नहीं पहचाना तुमने ?”

मूंगा ने चट दोनों हाथों से अपनी छातियों को, जो गीली धोती के अन्दर से भाँक रही थीं, ढँक लिया और मुँह फेरकर बोली : “आप उधर ठहरिए, मैं नहाकर अभी आती हूँ।”

मैं डोल रखकर, प्यासा ही, घर की ओर वापस चला आया। मुझे देखकर कुत्ता फिर भौंकने को हुआ, मगर कुछ सोचकर उसने अपना विचार बदल दिया और बैठा हुआ दुम हिलाने लगा। मैं सोचने लगा, मूंगा के बारे में। पुरानी बातें याद हो आईं। गाँव भर में सबसे सुन्दर मूंगा ही थी। उसका गोरा अंग और उसकी चपल आँखें मुझे हमेशा याद रही थीं। उसकी आँखों पर मैं दीवाना था। उसके अंग ने मुझे बाद में आकर्षित किया था। सर्दी की एक रात को जब गन्ने के खेत में हम लोग गन्ना चुराने घुसे थे, खेतवाले ने हमारा पीछा किया था। बाक्री के साथी तो पकड़े गए थे, पर मैं और मूंगा बड़े-बड़े गन्नों के बीच,

गन्नों की आड़ में, धरती पर पड़कर बच गए थे। चुपचाप एक दूसरे से लिपटे हम दोनों बड़ी देर तक उन भूमते हुए गन्नों के तल में पड़े रहे। हमारे कपड़े जहाँ-वहाँ फट रहे थे। धरती से निकलती हुई सुगंध में बड़ी मादकता थी; पर मूंगा की साँसों की मादकता धरती की साँसों की मादकता से अधिक थी। जाने कैसे, मूंगा की चोली कुछ ढीली होकर सरक गई थी, कुछ खुल-सी गई थी। उसका गोरा-गोरा वक्ष बाहर को भाँकने लगा। मुझे तकता देख मूंगा ने चट से चोली बाँधनी चाही पर मैंने उसके हाथ पकड़ लिए। उसने लजाकर मुँह फेर लिया। ऊपर जोरों की चाँदनी छिटकी हुई थी और उस चाँदनी में मैं मूंगा के यौवन को सतत तक रहा था। “बस ? . . . अब बाँध लूँ ?” उसने मुँह फेरे हुए ही पूछा था। ऊपर गन्ने के पत्तों पर थिरकती हुई नन्हीं-नन्हीं ठंडी बूँदें ढुलक-ढुलककर उसकी छातियों पर टपक रही थीं। “हाय ! बड़ी ठंडी है !” कहकर मूंगा ने मेरे हाथ भटक दिए थे और चोली कसकर बाँध ली थी।

मूंगा के उसी वक्षस्थल को आज मैंने फिर से देखा था—दूसरे रूप में—दूसरे सुन्दर रूप में। एक ही मूंगा के दो रूप थे। एक ही मूंगा के दो चित्र। चित्र भिन्न थे। पर मूंगा वही थी—मेरे जीवन में आई हुई स्त्रियों में सबसे पहली स्त्री।

कुत्ता भाँकने लगा। गोविंद आ रहा था।

“बगीचे में तो कोई नहीं है,” गोविंद ने पास आकर मुझे सूचित किया। “न जाने कहाँ चल दिए दोनों के दोनों।”

“मूंगा कुँ पर नहा रही है,” मैंने कहा। “अभी आती है”

“तुम्हें कैसे पता ?”

“पानी पीने में कुएँ पर गया था। मुझे क्या मालूम था कि वह नहाती होगी वहाँ।”

“फिर क्या हुआ ? तुम्हारी बात हुई ?”

“उसने कहा : ‘अभी आती हूँ।’”

“तुमने पहचान लिया उसे ?”

“बराबर।”

“और उसने ?”

“पहले तो वह चौंक पड़ी और नहीं पहचाना पर जब मैंने सर पर से टोप उतारा और कहा कि मैं जग्गू हूँ तो शायद पहचान गई, पर कह नहीं सकता बराबर।”

“वह आ रही है,” गोविंद ने धीमे-से इशारा करते हुए कहा।

मूंगा ने पास आकर नमस्कार करते हुए गोविंद से कहा :
“कौन, गोविंद बाबू आए हैं ?”

“हाँ, भाभी, और तुमने इन्हें नहीं पहचाना ? यह हैं ठेकेदार साहब के बेटे, जगदीश—आज बारह बरस बाद हमारे गाँव आए हैं ?”

मूंगा ने मुझे नमस्कार किया। मैंने नमस्कार का उत्तर देते हुए पूछा : “शायद तुमने नहीं पहचाना मुझे ?”

मूंगा ने मुस्कुराकर मुझे सर से पाँव तक अच्छी तरह देखा।
“तुम तो बिलकुल बदल गए, बाबू !” वह बोली। “कब आए ?”

“आज ही आया हूँ।”

“आओ न, अन्दर आओ, खड़े क्यों हो ? गोविंद बाबू,

तुम भी मेहमान बन गए। इन्हें बिठाया तो होता घर में?"

मूंगा ने छपरी में जाकर मचिया बिछा दी। मैं बैठ गया। गोविंद बाजू में पड़ी हुई खटिया पर बैठ गया। मूंगा अन्दर की कोठरी में चली गई। "कब तक रहोगे, बाबू?" अन्दर से ही मूंगा ने पूछा।

"शाम की गाड़ी से वापस चला जाऊँगा," मैंने उत्तर दिया।

"जगू को अब यह गाँव नहीं सुहाता। देखो न, भाभी, आते ही तबीअत ऊब गई," गोविंद ने मुस्कराकर कहा।

"आजकल कहाँ रहना होता है, बाबू?"

"बम्बई में रहता हूँ।"

उसके बाद मूंगा ने और कुछ पूछा पर घर के ऊपर से उड़ते हुए हवाई जहाज की कानफोड़ आवाज में कुछ सुनाई नहीं दिया। हवाई जहाज के चले जाने के बाद मैंने पूछा: "तुम क्या कह रही थीं, मूंगा?"

उत्तर में मूंगा स्वयं कोठरी से बाहर निकल आई। माँग-पट्टी करके, सँवरकर आई थी। घेरदार रंगीन घाघरा, शीशा जड़ी हुई चोली, लहरिया ओढ़नी पहनकर आई थी। हम दोनों जने उसे ताक रहे थे। हमें ताकता देख मूंगा लजा-सी गई। "मैंने कहा, यहाँ कैसे आना हुआ?" उसने पूछा।

"यों ही, गाँव की याद आया करती थी; सोचा, हो आऊँ। बारह बरस हो गए थे गाँव छोड़े," मैंने कहा।

"रावजी नहीं दिखाई दिए! कहीं बाहर गए हैं क्या?" गोविंद ने पूछा,

"भील पर गए हैं, पान के पिटारे लेकर।"

“क्यों?” मैंने पूछा, “भील पर क्यों?”

“वहीं पर पान धोकर पिटारे में रखे जाते हैं। कल का बजार है न बाजूवाले गाँव में। जाऊँ, बुला लाऊँ उन्हें?”

“नहीं, तुम बैठो; मैं बुला लाता हूँ,” कहकर गोविंद भील की ओर चल पड़ा। उसके जाने के बाद थोड़ी देर चुप्पी रही; फिर मैंने पूछा: “कैसी हो, मूंगा?”

“अच्छी हूँ, बाबू। तुम कैसे रहे? तुमको कभी गाँव की याद नहीं आई?”

“याद तो बहुत आती थी, पर आने के लिए समय नहीं निकाल सका कभी।”

“बड़े आदमी हो गए हो अब तुम!” मूंगा के उद्गार में व्यंग्य छिपा था।

मैंने भी व्यंग्य का सहारा लिया। “नहीं, यह बात नहीं,” मैंने कहा। “मैंने सोचा, आने से क्या फ़ायदा। जाने लोगबाग मुझे पहचानेंगे भी या नहीं। सब कोई अगर ‘कौन हो?—कौन हो तुम?’ करने लगे तो भला मैं क्या जवाब दूंगा?”

मूंगा मुस्कुराई। “तुम्हें शरम नहीं आई? मैं नहा रही थी—तुम सीधे वहाँ चले आए? क्या तुम्हारे बम्बई शहर में ऐसा ही होता है?”

“मैं तो पानी पीने आया था। मुझे क्या पता था कि इस वक़्त कुएँ पर तुम नहा रही होगी! पर मुलाक़ात हुई बड़ी अच्छी!”

मूंगा शर्मा गई। “तुम बड़े वो हो,” उसने कहा। “तुम जरा नहीं बदले?”

“लो, और अभी-अभी तुम कह रही थीं : ‘तुम तो बिलकुल बदल गए,’ बाबू !’”

मूंगा खिलखिलाकर हँस पड़ी। खिलखिलाकर हँस पड़ना उसकी अपनी अदा थी। यह हँसी बिलकुल पहलेवाली— बारह बरस पहलेवाली मूंगा की थी। मुझे शरारत सूझी।

“अगर मैं कुएँ पर से न हटता तो तुम क्या करतीं ?” मैंने पूछा।

“कुएँ में धकेल देती तुम्हें। याद है पुलिया के नीचे कैसे धकेला था मैंने ! याद है या भूल गए ?”

मैं हँस पड़ा। “याद है,” मैंने कहा। “तुमने काट खाया था वह भी याद है।”

“महीना भर तुम इस्कूल नहीं गए थे। रात-रात भर तुम्हारे हाथ की तुम्हारी माँ सिकाई करती थीं। मुझे याद है, मैं खिड़की के बाहर से छिप-छिपकर देखा करती थी।”

“हाथ पर नहीं, तुमने मेरी टाँग पर काटा था। अब तक घाव है।” मैंने शिकायत के तौर पर कहा।

“सच ?” मूंगा मुस्कुराई। “देखूँ ?” उसने कहा। “देखूँ, घाव तो देखूँ।”

“शायद तुम भूल गईं—तुमने मेरी टाँग के पिछले हिस्से में बड़े ऊपर को काटा था। मैं तुम्हें दिखा नहीं सकता, पर सच मानो, घाव अभी तक है।”

मूंगा फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसकी चंचल कजरारी आँखें मुझे बड़ी अच्छी लगीं। मैं उसकी आँखों में देखने

लगा। मूंगा ने आँखें नीची कर लीं। रावजी और गोविंद आ रहे थे।

“बैठो, बाबू, बैठो,” रावजी ने अन्दर प्रवेश करते हुए कहा। “कब पधारे?”

“आज ही आया हूँ। बड़ा अच्छा बगीचा लगा रखा है पान का! काम-काज तो ठीक चल रहा है न?”

“सब ठीक है, बाबू। ईश्वर की दया है।”

“कहो, अभी भी बाँसुरी का शौक है या नहीं?” मैंने पूछा।

“बजा लेता हूँ कभी-कभी,” रावजी हँसता हुआ बोला।

“कहाँ बजाते हैं! दस दफा बोलो तब कहीं बजाते हैं?” मूंगा ने शिकायत की। “शादी से पहले तो दिन-रात बाँसुरी की तान छेड़े मेरे घर के आसपास चक्कर लगाया करते थे।”

रावजी हँस पड़ा। “बोलो, बाबू, क्या खाओगे-पिओगे?” उसने बड़े तपाक से मुँहसे पूछा।

“जब से आया हूँ तुम्हारे गाँव, बराबर खा-पी रहा हूँ। पेट इतना भर गया है कि शायद कल मुझे उपवास रखना पड़ेगा। थोड़ा पानी पिला दो।”

“नहीं, यह क्या बात हुई! घर पर आए हो और बिना कुछ खाए-पिए चले जाओगे?”

“अच्छा,” मैंने कहा, “तो थोड़ी चाय पिला दो। आए हैं तो चाय पीकर ही चलेंगे, गोविंद। ठीक है न?”

“मैं तो चाय नहीं पीता, पर हाँ, तुम जरूर पीओ,” गोविंद ने कहा।

“जा, थोड़ी चाय बना ला। बाबू को चाय नहीं पिला-एगी?” रावजी ने स्त्री से कहा।

मूंगा उठी और कुछ सकपकाकर अन्दर चली गई।

हम लोग छपरी में बैठे देर तक गाँव की, गाँववालों की, पान के बगीचे की और इधर-उधर की बातें करते रहे।

“जग्गू, तुम्हें बतक के शिकार का शौक नहीं?” गोविंद पूछ बैठा।

“बड़ा शौक है,” मैंने कहा। “क्यों यहाँ मिलती हैं क्या बतकें?”

“यह लो ! ढेर-सी?” रावजी बोला।

“कहाँ?” मैंने पूछा।

“भील पर,” गोविंद ने कहा।

“कुछ गोरे लोग तुम्हारे बम्बई से हर साल यहाँ आते हैं, और ढेर-सी बतकें मारकर ले जाते हैं।”

“अरे वाह ! मुझे तो पता ही न था,” मैं बोला। “तब तो फिर हम जरूर आएँगे। कब शुरू होता है बतकों का मौसम?”

उत्तर में अन्दर की कोठरी से मूंगा बोली : “बस, बाबू, महीने भर के अन्दर शुरू हो जायगा बतकों का मौसम।”

रावजी ने कहा कि महीना भर भी नहीं लगेगा। पन्द्रह, बीस दिन में ही बतकें आनी शुरू हो जाएँगी। तो यह तय रहा कि पन्द्रह दिनों के बाद से मैं यहाँ बतकों के शिकार के लिए कभी-कभी छुट्टी निकालकर आया करूँगा। मेरे इस प्रस्ताव से रावजी और गोविंद दोनों खुश हो गए।

“बतकों का शिकार तो रात को अच्छा होता है, बाबू,”

रावजी ने कहा। “शनीचर की शाम को आ जाओ, भील में डोंगी डाल देंगे। रात भर शिकार खेलना और इतवार को खाना-वाना खाके, तनिक आराम करके, साँभ की गाड़ी से तुम वापस जा सकते हो।”

मैंने कहा ऐसा ही करूँगा। पर गोविंद को मेरी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। “कौन जाने तुम फिर कब आओ,” वह बोला। “बारह बरस में एक दफ़ा आज आए हो ! दुबारा शायद फिर बारह बरस बाद आना होगा।”

मैंने इतमीनान दिलाया कि अब ऐसा नहीं होगा; समय निकालकर मैं जल्दी ही आऊँगा। सहसा मेरी निगाह गोविंद और रावजी के पीछेवाली कोठरी में एक दीवार पर पड़ी। डूबते हुए सूर्य की किरणें शायद किसी झरोखे से आकर इस दीवार पर पड़ रही थीं। दीवार पर रह-रहकर किसी की छाया पड़ती थी। मैंने ध्यान से देखा, छाया की आकृति स्त्री की थी। रावजी और गोविन्द से मैं बातें तो करता जाता था पर मेरी दृष्टि बरबस भीतर की कोठरीवाली उसी दीवार पर जमी हुई थी, जिस पर मूँगा की परछाईं पड़ रही थी। मूँगा एक ग्लास अपने स्तन से लगाए दूध निचोड़ रही थी। देखकर मैं अवाक् रह गया। ‘तो मूँगा मुझे अपने दूध की चाय पिलाने जा रही है!’ मैंने सोचा। अतिथि सत्कार की यह पराकाष्ठा थी !

“चाय के साथ थोड़ा हलुआ भी बनवाऊँ?” रावजी पूछ रहा था।

“नहीं, रावजी, पेट भरा है, वर्ना जो खिलाते सब खाता,” मैंने कहा।

फिर रावजी ने मूंगा को पुकारकर पूछा कि अब और कितनी देर लगेगी चाय में। “अभी लाई,” कहती हुई मूंगा एक काँसे के ग्लास में चाय और एक बड़े-से कटोरे में उबाले हुए शकरकंद लेकर कोठरी से बाहर निकल आई। काँसे का ग्लास मुझे पकड़ाते हुए उसने कहा : “लो, बाबू, चाय लो।”

मैंने मूंगा के हाथ से ग्लास लेकर कहा : “और इनके लिए चाय?”

“यह दोनों तो चाय नहीं पीते। क्यों, गोविंदबाबू, बनाकर लाऊँ तुम्हारे लिए भी?” मूंगा ने पूछा।

“नहीं जी,” गोविंद बोला, “चाय मैं कब पीता हूँ? लो, रावजी, शकरकंद लो। तुम भी लो, जगू।”

रावजी और गोविंद शकरकंद खाने लगे और मैंने ग्लास मुँह को लगाया। काँसे का ग्लास बहुत गर्म था। मैंने जेब से रुमाल निकालकर उस पर लपेट लिया और ग्लास फिर से मुँह को लगाया। चाय पीते-पीते ग्लास के ऊपर से मेरी निगाह मूंगा पर पड़ी जो मुझे ही ताक रही थी। उसकी आँखों में प्रमद युक्त उल्लास था। एक घूंट लेकर मैंने ग्लास मुँह से हटाया। चाय का स्वाद विचित्र था।

“चाय ठीक तो है, बाबू?” मूंगा ने बड़ी उत्सुकता से पूछा। “अच्छा हुआ घर में चाय की पुड़िया रखी थी। नहीं तो, देखो न, तुमने चाय माँगी और मैं तुम्हें चाय भी नहीं पिला सकी होती।”

“अरे, दूध था क्या घर में?” रावजी ने अपनी स्त्री से पूछा। “दूध तो तूने सारा दोपहर को ही जमा दिया था।”

“थोड़ा-सा बचा रखा था मैंने एक कटोरी में,” मूंगा ने पति को उत्तर दिया। “मैं सोच रही थी तुम्हारे लिए शामको लस्सी बना दूंगी।”

“अच्छा किया। तू है बड़ी होशियार। बाबू, तुम तो चीनी के प्याले से पीते होगे चाय। गिलास से पीने में मुँह जल रहा होगा?”

“नहीं, रावजी, बड़ा मज़ा आ रहा है!” रावजी खुश हो गया। फिर मूंगा की ओर देखकर मैंने कहा : “बड़ी अच्छी बनी है यह चाय।” मूंगा खड़ी सगर्व मुस्कुरा रही थी।

ग्लास खाली करके मैंने सिगरेट सुलगाई। गोविंद उठ खड़ा हुआ। “अब चलना चाहिए। गाड़ी को सिर्फ़ घंटा भर बाक़ी है,” वह बोला, और छपरी से नीचे उतर आया।

“ठहरो, बाबू,” रावजी बोल पड़ा, “पैदल क्यों जाते हो तुम इतनी दूर? छकड़ा है मेरे पास। जरा ठहरो, मैं अभी छकड़ा जोतकर लाता हूँ।”

रावजी घर के पीछे की ओर चला गया। गोविंद आँगन में खड़ा जमुहाई ले रहा था।

“मेरे बच्चे को नहीं देखोगे, बाबू?” सहसा मूंगा ने मुझसे पूछा।

मैंने उसे बताया कि यहाँ आने पर सबसे पहले इस घर में मैंने बच्चे को ही देखा था। फिर मैं पालने के पास जा खड़ा हुआ। बच्चा बड़ा प्यारा था। जाग पड़ा था।

अँगूठा चूस रहा था। मैंने जेब से एक नोट निकालकर बच्चे के नन्हे-से हाथ में पकड़ा दिया। मूंगा ने बच्चे के हाथ से नोट छीन लिया और मुझे लौटाने लगी। “यह क्या बाबू? सौ रुपये का नोट! यह क्या करते हो?”

“सो क्या हुआ?” मैंने कहा। “मेरी मरजी है। बच्चे को दिया है।” मैंने नोट वापस नहीं लिया। मूंगा चुप हो गई। नोट को देखने लगी। फिर उसने सर उठाया। हमारी आँखें चार हुईं। मूंगा की आँखों में पानी जमा होने जा रहा था।

“तुम्हारा यह अतिथि सत्कार मुझे हमेशा याद रहेगा, मूंगा,” मैंने कहा। “तुम्हारी यह चाय मैं कभी नहीं भूलूंगा।”

“बाबू—एक—एक बात कहूँ?” वह बोली।

“कहो, मूंगा।”

“अब—अब तुम—हमारे गाँव कभी न आना.... गाँव अगर आओ भी तो—मेरे घर मत आना।” मैं अवाक् खड़ा था। उसने फिर कहा : “बोलो, इतना करोगे?—मेरी खातिर?”

“जैसे तुम्हारी मरजी,” मैं बोला।

“तुम्हें मेरे सिर की कसम है—अब—अब मुझसे कभी न मिलना.....” उसकी आँखें लबालब भर आई थीं।

“नहीं मिलूंगा, मूंगा। अब मैं तुम्हारे गाँव कभी न आऊँगा,” मैंने उसे वचन दिया।

रावजी छकड़ा लिए आ गया। मैं जाकर उसमें बैठ गया। गोविंद पहले ही बैठ चुका था। छकड़ा चल पड़ा। मैंने मुड़कर देखा, अपनी छपरी में खड़ी मूंगा बच्चे को छाती से

लगाए शायद दूध पिला रही थी। वह भी मेरी ओर देख रही थी। हम दोनों बड़ी देर तक एक दूसरे को देखते रहे.... और फिर, भागते हुए छकड़े से उड़ती हुई धूल मेरे और मूँगा के बीच फैल गई, और हम दोनों एक दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गए—सदा के लिए।

ठंढा पसीना

दोनों चुप बैठे हुए थे। वह उसकी ओर देख रही थी और वह सर लटकाए नीची निगाह किए सोच रहा था। कमरे में एकदम सन्नगटा था। बाहर भड़ लगी हुई थी।

सिगरेट के सिरे पर जमी हुई राख की लम्बी तह उसने राखदानी में भड़ाई। “तुम्हें यहाँ न आना चाहिए था,” उसने कहा।

“यहाँ न आती तो और कहाँ जाती?”

“कहीं नहीं। अपने घर में रहना था।”

“घर में मेरा दम घुटा जा रहा था। मैं पागल हो जाती।”

“तुमने ठीक नहीं किया। इतनी रात को यहाँ न आना था।”

“पहली बार तो नहीं आ रही हूँ। इससे पहले भी तुम्हारे घर आ चुकी हूँ।”

“मगर रात में तुम मेरे यहाँ आज पहली बार—”

“कह तो दिया मेरा सर फटा जा रहा था।”

“अगर मुझसे मिलना ही था तो कल सुबह मिल सकती थीं। इतनी रात को, इस बरसात में, आने की क्या जरूरत थी? अगर कोई सुनेगा तो—”

“सुना करे। मुझे किसी की परवाह नहीं।”

“किसी की हो न हो, गोपाल की तो है। अगर गोपाल सुनेगा तो जानती हो क्या करेगा?”

“तुम घबराओ नहीं, तुम्हारा खून नहीं करेगा। अब कुछ बतलाओगे भी कि मैं क्या करूँ?”

वह चुप हो गया। राखदानी में रगड़-रगड़कर सिगरेट बुझाने लगा।

“जी मैं तो आता है कि अपनी जान दे दूँ,” वह बोली।

“सुनो, शांता, इस तरह की बेकार बातें करने से कोई फायदा नहीं। तुम घर जाकर आराम से सो जाओ,” उसने कहा और ओल्ड स्मगलर की बोतल उठाकर ग्लास में ह्विस्की उँडेलने लगा।

“आराम से कैसे सो जाऊँ? मुझे नींद आए तब न... आजकल तुम बहुत पीने लगे हो।”

ह्विस्की में उसने सोडा मिलाया और ऊपर से बर्फ़ का एक टुकड़ा छोड़कर बोला : “बहुत, तो नहीं।”

“मेरे आने के बाद से यह तीसरा ग्लास है।”

“दूसरा।”

“भूठ मत बोलो, मदन ! तीसरा है यह,” शांता ने तीव्र स्वर में कहा।

वह चुप हो गया। ग्लास मुँह से लगाकर गट-गट उसने दो घूँट लिए। बाहर पानी जोरों से बरस रहा था।

“मेरे आने से पहले भी तो तुम पी रहे थे।”

“पी नहीं रहा था, पीने की तैयारी में था।”

“तुम्हारा ग्लास तो आधा था।”

“छोटा बनाया था।”

“कौन जाने, फिर भूठ बोल रहे होंगे। तुम जब भूठ बोलते हो तो तुम्हारी शकल से पता नहीं चलता।”

“मैं तुमसे भूठ कब बोलता हूँ?” मदन ने पूछा।

शांता चुप हो गई। सामने की गोल मेज पर से ह्विस्की की बोतल उठाकर उसने साइडबोर्ड पर रख दी।

“न जाने तुम इतना पीने क्यों लगे हो आजकल,” उसने कहा। “पहले तो तुम छूते भी न थे।”

“रोज तो नहीं पीता।”

“कौन जाने।”

“कभी-कभी पी लेता हूँ।”

“क्यों पीते हो?”

“पीने को जी करता है।”

“क्यों जी करता है?”

“शाम को घर पर अकेले बैठे-बैठे और क्या करूँ?”

“शाम को तुम क्लब जाया करते थे।”

“आज चार दिन से लगातार बारिश हो रही है,” मदन ने कहा। “दफ़तर से थककर शाम को घर आता हूँ फिर ऐसी बारिश में क्लब जाने को तबीअत नहीं करती। शाम को जब बारिश होती है तो पीने को जी करता है।”

शांता सुन रही थी। मदन ने डिब्बे में से एक सिगरेट निकाली और सुलगाने लगा। शांता देख रही थी। जलती सलाई पकड़ा हुआ मदन का हाथ काँप रहा था। मदन के पीछेवाली लम्बी-चौड़ी खिड़की के दूधिया रंग के रेशमी पर्दों

में हवा भरी जा रही थी। जिस प्रकार समुद्र के बीच भागती हुई नाव की पाल में तनाव पैदा होता है, उसी प्रकार मदन की खिड़की के इन दूधिया रेशमी पर्दों में भी तनाव पैदा हो रहा था। खिड़की से तीस फुट नीचे समुद्र की लहरें मकान के पाये पर आ-आकर टूट रही थीं। समुद्र की फुँकार और बारिश की झड़ की ध्वनियों ने मिलकर एक अजीब हंगामा पैदा कर रखा था, और ऐसा लगता था कि मदन और शांता प्लैट में नहीं, नाव में बैठे हुए हैं, किनारे की बालू पर खड़ी हुई स्थिर नाव में।

“तुम्हें इतनी रात को यहाँ नहीं आना था, शांता,” सिगरेट का लम्बा कश लेकर मदन ने कहा और मुँह से फूँककर उसने सलाई बुझाई और फिर जाकर सलाई खिड़की के बाहर फेंक दी। मदन के पाँव लड़खड़ा रहे थे।

मदन को लड़खड़ाते देख शांता को लगा स्थिर नाव चलने लगी है और मँझधार में झकोले खा रही है।

“ऐसी क्या रात हो गई जो ‘इतनी रात, इतनी रात’ कह रहे हो? अभी तो दस भी नहीं बजे,” शांता ने कहा।

खिड़की के सामने खड़े-खड़े मदन ने शांता को अच्छी तरह आँख गड़ाकर देखा।

“कौन है यह हेमा?” उसने पूछा।

“डॉक्टर बैनर्जी की छोटी बहन,” शांता ने कहा।

“अब तक तो मैंने इसे कभी नहीं देखा। इतनी पार्टियाँ हुईं तुम्हारे यहाँ, मेरे यहाँ, दूसरे दोस्तों के यहाँ, कहीं दिखाई

न दी, न ही कभी सी० सी० आई० या और किसी क्लब में देखा इस हेमा को।”

“दुर्गा पूजा पर आई थी बम्बई, अपने भाई के पास।”

“कहाँ से?”

“कलकत्ते से। इसी साल डॉक्टरी की है।”

“वापस कब जा रही है?”

“जा ही कब रही है वह!” शांता ने बिगड़कर कहा। भाई के पास सिर्फ छुट्टियों भर के लिए आई थी पर इस बीच हमारे रसिया से जो उसकी मुलाकात हो गई। अब चुड़ैल कलकत्ते जाने का नाम ही नहीं लेती। यहाँ बम्बई में ही प्रैक्टिस शुरू करने की सोच रही है।”

“और तुम्हारा खयाल है गोपाल उसका पहला पेशेंट होगा?”

“अगर ऐसा हुआ तो मैं उसका गला दवा दूंगी।”

“किसका?”

“उस बंगालन का।”

“हूँ,” मदन ने कहा और वह टहलने लगा। फिर आकर सोफ़ा पर बैठ गया। दूसरे सिरे पर शांता बैठी थी। ग्लास उठाकर मदन ने बची हुई मुँह में उड़ेल ली।

“तुम इतनी जल्दी-जल्दी क्यों पी रहे हो?” शांता ने पूछा।

“गोपाल कहाँ है इस वक़्त?”

“कहा तो इतनी बार! वहीं—बैनर्जी के घर— पार्टी में....”

“गोपाल को छोड़कर पार्टी में से तुम कैसे चली आई ?”

“तुमसे बात जो करनी थी,” शांता ने कहा। “खाना खत्म होते ही हेमा ताश ले आई। बस, फिर क्या था, गोपाल जम गए वहीं पर रमी खेलने। मैं जानती थी आज फिर दो बजेंगे। मकड़ी की तरह अपना जाल फैला रही है वह तो। नींद का बहानाकर मैं वहाँ से खिसक आई। घर गई तो हेमा के खयाल ने पागल कर दिया। पर तुम भी अजीब हो ! मैं तुमसे सलाह-मशविरा लेने आई हूँ और तुम पीने बैठ गए। पीना ही है तो कल सुबह बैठकर पी लेना जी भर के। कहो तो भिजवा दूँ एक बोतल अपनी तरफ से ?”

उत्तर में मदन ठहाका मारकर हँस पड़ा और उठकर साइडबोर्ड की ओर जाने लगा।

“नहीं, तुम क्यों भिजवाओ ! अभी तो काफ़ी है इसमें,” वह बोला।

“यह क्या ! फिर उँडेल रहे हो ?” बोलती हुई शांता लपकी और मदन के हाथ से शीशी भपटने लगी।

“सिर्फ़ एक,” मदन ने ज़िद की, “सिर्फ़ एक, आखिरी ग्लास—”

“नहीं, तुमने बहुत पी ली है। तुमसे तो चला भी नहीं जाता। लाओ दो—लाओ भी—छोड़ो बोतल—”

मदन ग्लास में उँडेलने की कोशिश कर रहा था और शांता छीनने की। इस छीनाभपटी में बोतल हाथों से फिसल गई और नीचे गिरते ही फूटकर चकनाचूर हो गई। चिकने संगमरमर पर टूटी हुई बोतल से ह्विस्की बह निकली और

इस तरह फैल गई मानो चाँदी के बहुत बड़े थाल में किसी ने पिघलाया हुआ सोना उँड़ेल दिया हो। बीच-बीच में बोतल के सफ़ेद-सफ़ेद टुकड़े हीरे की तरह चमक रहे थे। सारा ड्राइंगरूम शराब की बू से महक उठा।

मदन ठहाका मारकर हँस पड़ा।

“अहा! यह भी अच्छा हुआ!” वह बोला। “कुछ नशा पीने से हुआ है, कुछ सूँघकर हो जाएगा।”

अवाक् खड़ी हुई शांता अब मुस्कुराने लगी।

“एक बात पूछूँ, शांता?”

“क्या?”

“तुम मुझे कबसे जानती हो?”

“जब से तुम मुझे जानते हो।”

“हम दोनों के वह मिले-जुले मकान..... तुम्हें याद हैं बनारस की बातें? हमारा साथ-साथ खेलना, भगड़ना?”

“याद है,” शांता ने कहा और फिर बनारस की बातें, बचपने की बातें उसे याद हो आईं।

“मैंने तुम्हें नंगा देखा है,” मदन ने कहा।

“कितना भगड़ती थी मैं। सबसे भगड़ा करती थी। सिर्फ़ तुम कभी नहीं भगड़ते थे मेरे साथ। दूसरे लड़के जब मुझे सताते, मारते, पीटते तो तुम्हीं मुझे बचाया करते थे। तुमने मुझे हर मुश्किल से बचाया है। हमेशा बचाया है। हमेशा मुझे नेक सलाह दी है।” वह आकर सोफ़ा पर बैठ गई।

“बाद में मैंने जब सुना कि तुमने गोपाल से शादी कर ली तो मुझे बड़ी चोट लगी।”

“क्यों? गोपाल तो तुम्हारे दोस्त थे।”

“मैं सोचे हुए था तुम मुझसे करोगी शादी।”

“तुमसे?” शांता हँस पड़ी। “यह तुमने कैसे सोच लिया कि मैं तुमसे शादी करूँगी?”

“तुम जानती थीं मैं तुम्हें चाहता था।”

“यह मैं नहीं जानती थी।”

“अब तुम झूठ बोल रही हो।”

“तुम्हारी कसम।”

“मैं हमेशा तुम्हारे लिए जान पर खेलने को तैयार रहा हूँ।”

“यह जानती हूँ। तभी तो जब मैं तकलीफ़ में होती हूँ तुमसे सलाह लेने आती हूँ। आज भी आई हूँ।”

मदन लड़खड़ाता हुआ पास आने लगा। ह्विस्की में भीगे हुए उस टूटी हुई बोतल के टुकड़े उसके जूतोंतले पिसकर कड़ाम-कड़ाम बोलने लगे।

“नौकर को बुलाकर फ़र्श साफ़ करवा लो न,” शांता ने कहा।

मदन शांता के सोफ़े पर उसके पास बैठ गया।

“सब नौकर आज छुट्टी पर हैं। मैं खाना बाहर खानेवाला था,” उसने कहा।

शांता ने साश्चर्य मदन की ओर देखा, फिर फ़र्श पर चमचमाती हुई ह्विस्की की ओर, फिर कहा: “मेरा टेलीफ़ोन

आने के बाद तुमने नौकरों को छुट्टी दे दी और पीने बैठ गए।
क्यों?"

“शायद।”

“क्यों? ऐसा क्यों किया?”

मदन ने नई सिगरेट सुलगाई। इस बार उसके दोनों हाथ बड़े जोर से काँपे थे। उसका चेहरा तमतमा रहा था, माथा पसीने से एकदम तर हो रहा था। शांता उसकी दशा देखकर आज पहली बार किसी अज्ञात आशंका से भयभीत हो उठी।

“यों ही, जी चाहा तुमसे अकेले में दिल खोलकर बात करूँ,” मदन ने कहा।

“कैसी बातें?” शांता ने पूछा।

“अपनी बातें। तुम्हारी और मेरी बातें। अच्छा, यह बताओ, गोपाल मुझ पर कभी शक नहीं करता?”

“वह जानते हैं मैं उन्हें दिलोजान से प्यार करती हूँ—सिर्फ उन्हें।”

“और वह?”

“वह भी मुझे उसी तरह चाहते हैं।”

“फिर हेमा से तुम घबराती क्यों हो?”

“क्योंकि गोपाल आखिर आदमी हैं..... और आदमी की नीयत बिगड़ते देर नहीं लगती।”

“तुम्हारा खयाल है गोपाल इस चिकनी तबीअत का है कि तुम्हें छोड़कर हेमा के पीछे—”

“अपनी-अपनी तबीअत होती है..... और तबीअत पर

किसी का ज़ोर नहीं चलता। मुझे कुछ हो जाता है तो उनकी जान निकलने लगती है पर—पर अपनी तबीअत पर उनका कोई बस नहीं चलता, यह मैं जानती हूँ। अबोध बालक की तरह आग लगाकर तमाशा देखने लगते हैं। वह यह नहीं सोच पाते कि आग सारा घर जला देगी—सबको भस्म कर देगी..... पर मैं तो सोच सकती हूँ। मुझे तो नहीं चाहिए कि बात आगे बढ़ने दूँ,” शांता ने कहा फिर कुछ मुस्कुराकर बोली : “मुझे तो लगता है ज़रूर इन्हें देखकर ही शायर ने कहा होगा : ‘नीयत खराब सही, आदमी खराब नहीं।’”

“तुम भी अजीब हो!” मदन ने कहा। “गोपाल की शिकायत लेकर आई थीं और अब उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधे जा रही हो!”

शांता मुस्कुराई।

“तो गोपाल को तुम पर भरोसा है.... मगर तुमको गोपाल पर भरोसा नहीं, क्यों?” मदन ने मुस्कुराकर पूछा।

“शायद।”

“और मुझ पर? क्या गोपाल को मुझ पर भी भरोसा है? तुम्हारे साथ हमेशा से मेरा जो सम्बन्ध रहा है उसे देखकर कभी वह जलता नहीं?”

“वह जानते हैं मेरा कोई भाई नहीं और तुम मेरे भाई की तरह हो।”

“मगर मैं तुम्हारा भाई तो नहीं। न ही तुमने कभी मुझे राखी बाँधी है।”

“दोस्त सही। तुम उस तरह के दोस्त हो जिसमें और

सगे भाई में कोई फर्क नहीं होता,” मदन का हाथ अपने हाथ में लेती हुई शांता बोली ।

मदन की हथेली पसीने से गीली थी । शांता ने अपने आँचल से उसकी हथेली का पसीना पोछा फिर हँसने लगी ।

“क्यों, हँस क्यों रही हो ?” मदन ने पूछा ।

“कभी-कभी जब गोपाल का और मेरा झगड़ा होता है तो मुझे गुस्सा दिलाने के लिए तुम्हारे-मेरे रिश्ते पर वह तुहमत लगाते हैं, दिल से नहीं, दिखाने के लिए, ताकि मैं और झल्लाऊँ ।”

“फिर तुम क्या कहती हो ?”

“मैं भी जलाती हूँ, कहती हूँ : ‘मेरे भाग फूटे थे जो तुम्हारे साथ उलझ गई मैं ! दिन-रात की कटाकटी ! मदन के साथ शादी करके सुख से तो रहती ।’ और तब हँस-हँसकर जानते हो वह क्या कहते हैं ?” मदन उसे देखने लगा, उसकी चपल आँखों को, उसके मुस्कराते होंठों को देखने लगा । “वह कहते हैं : ‘यह कोई नई बात नहीं । पिछले ज़माने में यूनान और मिस्र में ऐसा हो चुका है । सगे भाई ने बहन के साथ शादी की है ।’ ”

मदन ने सिगरेट की राख झड़ाई और बोला : “तो तुम नहीं जानती थीं कि मैं तुम्हें चाहता था ?”

“नहीं ।”

“और अगर जानतीं तो करतीं तुम मेरे साथ शादी ?”

“ना ।”

“क्यों ?”

“भाई के साथ किसी ने शादी की है कभी?”

“फिर मुझे भाई कहा!”

“दोस्त सही। न जाने भाई कहलाना तुम लोगों को बुरा क्यों लगता है।” फिर कुछ रुककर बोली : “शायद इसलिए कि तुम लोगों की नीयत खराब रहती है।”

“बताओ न,” शांता का हाथ अपने गीले हाथ में लेकर मदन ने पूछा, “तुम मुझसे शादी क्यों न करतीं।”

“क्योंकि मैं तुम्हें नहीं चाहती। बुरा न मानो, मदन। मगर सच यही है कि मैंने तुम्हें कभी उस निगाह से नहीं देखा। तुम हमेशा से, वचपन से, मेरे साथ-साथ रहे हो। हम दोनों साथ-साथ पले और बड़े हुए हैं—बिलकुल भाई-बहन की तरह। तुमसे मैंने कभी किसी तरह का पर्दा नहीं किया तुमने कभी भी मेरे दिल में हलचल पैदा नहीं की। तुम्हें हमेशा मैंने भाई या सच्चे दोस्त की तरह ही देखा है। हमारी दोस्ती पर हमें नाज़ होना चाहिए, मदन!”

“तुम इस वक़्त मेरे साथ अकेली हो मेरे कमरे में,” मदन ने कहा। “अगर मैंने कमरे की लाइट बुझा दी तो?”

“तुम ऐसा नहीं करोगे।”

“अगर मैंने तुम्हारे साथ ज़बर्दस्ती की तो?”

“तुम ज़बर्दस्ती नहीं करोगे। मुझे पूरा भरोसा है कि तुम कभी मेरे साथ ज़बर्दस्ती नहीं करोगे। अगर यह भरोसा न होता तो मैं इतनी रात को तुम्हारे यहाँ अकेली न आती,” शांता ने कहा।

“तुम्हें धोखा हुआ है, शांता। मुझे पर भरोसा करके तुम आज धोखा खा गईं।”

“आखिर तुम चाहते क्या हो?”

“तुम्हें।”

“और इतने दिनों की हमारी यह दोस्ती?”

“मुझे तुम चाहिए, तुम्हारी दोस्ती नहीं,” शांता को अपनी बांहों में समेटकर मदन ने कहा।

शांता ने अपने को छुड़ाया नहीं।

“दोस्ती का खून करके तुम पछताओगे, मदन। तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा,” वह बोली। “तुम्हें अचानक आज यह क्या हो गया है?”

“शांता!” उसने कहा। “शांता! तुम हमेशा मेरे इतने पास रहकर भी मुझसे दूर रही हो—बहुत दूर... आज—आज थोड़ी देर के लिए मेरी हो जाओ... लाइट बुझा दूँ?”

आँखें सकरी करके शांता ने ठंडे दिल से कहा : “क्यों, लाइट बुझाने की क्या जरूरत है? तुमने मुझे नंगा देखा है। आज जी भरके फिर न देखोगे?”

मदन ने शांता को बहुत ज़ोरों से भींचकर दबोचना चाहा पर वह वैसा कर न सका। उसकी काँपती हुई बाँहें एकदम ढीली हो पड़ीं और उसके सारे शरीर पर ठंडा पसीना फूट निकला। “शांता—” उसने कहा, “शांता... तुम्हें इतनी रात को यहाँ न आना—” उसे बड़े ज़ोरों की अँधियारी आई और वह ढुलकने को हुआ। शांता ने कसकर उसे छाती से चिमटा लिया।

“मदन !” उसने कहा। “मदन !”

मदन ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। लाल-लाल आँखें थीं। दोनों की आँखें चार हुईं। शांता की आँखों में लम्बी-लम्बी पलकों की ओट से ममत्व छलक रहा था। मदन कुछ मुस्कुराया और फिर बड़ी बुरी तरह मुँह बिगाड़कर वह उसकी छाती से दूर, सोफ़ा से नीचे, फ़र्श पर खिसक आया और गड़ाक-गड़ाक उलटी करने लगा। बहुत सारी उलटी की उसने। पेट में जो कुछ था उगल दिया उसने।

सोफ़े पर से झुककर शांता उसकी पीठ सहलाने लगी।

“बस—शांता—तुम जाओ अब—” मदन ने आस्तीन से मुँह पोछते हुए कहा।

“अब कैसा लग रहा है, मदन ?”

“ठीक हूँ। तुम जाओ”

“उठो—तुम्हारे बेडरूम तक छोड़ आऊँ।”

सहारा देकर शांता ने मदन को उठाया और फिर वह उसे सहारा दिए हुए ही उसके बेडरूम में ले गई। पलंग के पास पहुँचकर वह बिस्तर पर ढुलक पड़ा।

“पीने की तुम्हें आदत नहीं है,” शांता ने कहा। “मैं जानती हूँ आज तुमने ज़बर्दस्ती ख़ूब चढ़ाकर अपने को बहकाने की पूरी कोशिश की थी—पर तुम्हें चढ़ नहीं पाई। याद रखो, मदन, तुम उन लोगों में से हो जो चाहे जितनी पीएँ उन्हें कभी नहीं चढ़ती। पीकर तुम हमेशा ही उगल दोगे। पीकर हवा में उड़ना तुम्हारा काम नहीं।”

मदन मुस्कुरा रहा था। “शायद,” उसने कहा, “शायद तुम ठीक कहती हो।”

“अब तुम चुपचाप सो जाओ। मैं चलूँ। लाइट बुझा दूँ या जलती रहने दूँ?”

मदन ने भेंपकर मुँह फेर लिया।

“बुझाती जाओ,” वह बोली।

शांता लाइट बुझाकर ड्राइंगरूम में पहुँची ही थी कि बेडरूम के अँधेरे में से मदन की आवाज आई : “तुम अपने घर जा रही हो न, शांता?”

शांता रुक गई। ड्राइंगरूम में जोरों की सड़ान्ध फैल रही थी।

“नहीं,” उसने कहा, “अपने घर नहीं, बैनर्जी के घर।”

“क्यों?” मदन ने पूछा।

“शोपाल को लेने।”

मदन ने फिर कुछ नहीं पूछा।

ड्राइंगरूम की लाइट बुझाने से पहले शांता ने संगमरमर के चिकने फ़र्श पर एक निगाह डाली। मदन की क़ै का बदबूदार गंदा पानी स्कोटलैंड की चमचमाती व्हिस्की में मिला जा रहा था। लाइट का स्विच बन्द करके शांता जल्दी से दरवाज़े के बाहर हो गई। सीढ़ियाँ उतरती हुई वह नीचे आई। पोर्च में उसकी गाड़ी खड़ी थी। जोरों की बारिश हो रही थी। ‘बाहर कितना अच्छा हो रहा है!’ उसने मन में कहा।

ड्राइव्हर ने गाड़ी का दरवाजा खोला और वह अन्दर जा बैठी।

“कहाँ, मेमसाहब ?” ड्राइव्हर ने पूछा।

शांता चेहरे का मेकअप ठीक कर रही थी।

“मेरीन ड्राइव्ह,” उसने कहा। “बैनर्जी साहब के घर।”

लहू के धब्बे

डाकबँगले के बरामदे के पास पहुँचकर उमरावसिंह ने, फ़ौजी ढंग पर, खट-से एड़ से एड़ लगाकर, बड़े जोरों से सलाम किया।

बरामदे के बीचोबीच, गोल मेज़ के अतराफ़ बैठे हुआ का ब्रिज भंग हुआ। उन्होंने ताश के पत्तों से दृष्टि हटाकर जिधर से खट की ध्वनि आई थी उधर घुमाई; देखा, फ़ौजी सिपाहियों के-से दो पुराने बूट एड़ से एड़ मिलाए हुए थे, और जगह-जगह उनपर ताज़ा कीचड़ और रेत लग रही थी; फ़ीते के स्थान पर बूट में नारियल की रस्सी बँधी हुई थी और उनकी जीभें बाहर को लटक रही थीं—जैसे जीभ गला कटे हुए बकरे के मुँह से लटका करती है। इन्हीं बूट में खड़ा, लकड़ी की तरह अकड़ा हुआ, उमरावसिंह सलाम ठोंक रहा था।

“क्या हुआ, उमरावसिंह?” श्रीवास्तव ने पूछा।

“हो गया, सरकार। तीनों जगों पर बाँध आया।”

“क्या बाँधा है? बकरी या बोदा?”

“पुलिया के पास तो, सरकार, बोदा बाँधा है। घाटी में बकरी बाँधी है, सरकार, और नाले के ऊपर—वो जो नीम है न, सरकार?—उससे भी बोदा बाँधा है।”

श्रीवास्तव ने पत्ते मेज़ पर धर दिए और बुझा हुआ चुरट सुलगाने के लिए वह पतलून की जेब में माचिस टटोलने लगा।

सामने बैठे हुए डॉक्टर गुप्ता ने अपना लाइटर जलाया और हाथ बढ़ाकर श्रीवास्तव के चुरट के नीचे कर दिया।

“बोदे बहुत बड़े तो नहीं हैं?” डॉक्टर गुप्ता ने पूछा।

“जी नई, साब; कौली उमर के बछड़े हैं दोनों,” उमरावसिंह ने उत्तर दिया।

“तो फिर तीसरा भी बोदा ही बाँधना था,” श्रीवास्तव ने कहा।

“सरकार, गाँववालों के पास बस दोई बोदे थे, सरकार। बाकी सब बड़े-बड़े थे, सरकार। तो मेंने दो बोदे खरीद लिए और एक बकरी।”

“चलो, ठीक है,” श्रीवास्तव ने कहा। “कोई निशान-विशान दिखाई दिया?”

“निसान तो कोई नई देखा, सरकार, पर नाले के नीचे की बाजू, सरकार—वो जो सागवन का झाड़ है न, सरकार?—उसपर खूबसारे गिद्ध बैठे हुए थे। मुझे तो लगता है, सरकार, सेर बस उसी नाले में है।”

“अच्छा, उमरावसिंह, जाओ; थोड़ी देर तुम आराम करो। खाना-वाना खाया या नहीं?”

“कहाँ, सरकार, अभी कहाँ खाया! बोदे जुटाते-जुटाते गाँव में ई तो बारा बज गए थे। आपने कहा था, चार बजने से पहले तीनों जगों पर गारा बँध जाना चइये, सो हुकुम पूरा किया, सरकार। अभी खा लेता हूँ, सरकार, कोई बात नई। जाऊँ, सरकार, थोड़ा खा-पी लूँ?”

“हाँ, जाओ,” श्रीवास्तव ने कहा।

उमरावसिंह ने फिर एड़ से एड़ चटकाकर दुबारा चुस्त सलाम किया और डाकबंगले के पीछे की ओर चला गया, जिधर रसोईघर, नौकरों की खोलियाँ और मोटर के गराज बने हुए थे।

“तुम्हारा यह उमरावसिंह है बड़ा तेज !” डॉक्टर ने कहा। कहाँ मिल गया तुम्हें ?”।

“फ़ौज में कभी सिपाही था। इसका बायाँ हाथ काम नहीं करता। पिछले चार, पाँच साल से है मेरे पास। ऊपरी काम के लिए रख रखा है। दूसरे नौकरों पर रोब जमाने में इसका जोड़ नहीं। और खासकर शिकार पर बड़े काम का आदमी है।”

“सो तो दीख ही रहा है। आओ खेलें।”

“पहले थोड़ी चाय पी लें। पाँच बजनेवाले हैं। क्यों, लता, मिलेगी चाय ?”

“मैं भी यही सोच रही थी। अभी मँगवाती हूँ,” कहती हुई श्रीवास्तव की पत्नी उठने लगी।

“आप बैठिए, भाभी, मैं देखता हूँ,” मनोहर ने कहा और उठकर अंदर चला गया। मनोहर, डॉक्टर गुप्ता का छोटा भाई था। चार साल पहले उसने डॉक्टरी पास की। फिर विलायत चला गया। वहाँ और डिग्रियाँ लीं। और तब से नागपुर में, भाई के अस्पताल में ही, वह काम कर रहा था।

“समझ में नहीं आता, तुम्हारी जीप क्यों नहीं लौटी अभी तक ?” लता ने पति से कहा।

“गाड़ी तो दो बजे आती है ?” डॉक्टर ने कहा। “सड़क खराब है, पर फिर भी स्टेशन से यहाँ तक पहुँचने में डेढ़ घंटे से

ज्यादा नहीं लगना चाहिए था; और इस हिसाब से साढ़े-तीन तक जीप को यहाँ आ जाना चाहिए था। अब तो पाँच बज रहे हैं।”

श्रीवास्तव सड़क की ओर देख रहा था। दूर उस मोड़ पर दृष्टि जमाए हुए था जहाँ पर आनेवाली जीप सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होगी।

“मुमकिन है ट्रेन लेट रही हो,” उसने कहा। “मुमकिन है रास्ते में कोई टायर टें बोल गया हो।”

“साथ में स्पेअर ह्वील तो था न?” डॉक्टर ने पूछा। श्रीवास्तव ने कोई उत्तर न दिया, बाजूवाली तिपाई पर पड़ी हुई दूरबीन उठाकर उसने आँखों से लगाई।

“बह रही!” उसने उत्तेजित हो कहा। “आ रही है जीप!” लता और डॉक्टर ने दूर सड़क की मोड़ पर देखा धूल उड़ रही थी।

“चलो, लाल भी आ गया! अब मज़ा आएगा शिकार में!” श्रीवास्तव ने कहा। “पार्टी का रंग जमाने में इसका जवाब नहीं।”

“सच कहते हो। ऐसा मज़ाकिया आदमी मैंने नहीं देखा,” डॉक्टर ने समर्थन किया और हँसने लगा।

मनोहर एक नौकर के साथ चाय का ट्रे लिवा लाया। “मिनी क्या कर रही है, मनोहर? मिनी को नहीं बुलाया?” लता ने मनोहर से पूछा।

“अभी आती है। कपड़े बदल रही है,” मनोहर ने उत्तर दिया।

लता ने मन में सोचा : 'तो भाई साहब मिनी को देखने गए थे अंदर ! चाय मँगवाने का बहाना था सिर्फ !'

"जॉन को मैंने इतनी बार मना किया कि गाड़ी तेज न चलाया करे; पर देखो, कैसे भगाए लिए आ रहा है !" श्रीवास्तव ने कहा।

"यह कम्बख्त ड्राइव्हरों की जात ही ऐसी होती है। मालिक की नज़र ज़रा हटी कि दर्बाया उन्होंने एक्सलरेटर," डॉक्टर ने कहा।

"नहीं, वह अपना ड्राइव्हर नहीं। कोई और चला रहा है गाड़ी। बाजू में लाल बैठा हुआ है। जॉन पीछे बैठा है," दूरबीन में देखते हुए श्रीवास्तव ने कहा।

लता और डॉक्टर आँखें फाड़े, आँधी के वेग से आती हुई, जीप को देखने लगे। केवल मनोहर की दृष्टि दरवाज़े के भीतर से आती हुई मिनी पर जमी हुई थी। टिन-ओपनर से बिस्किट का डिब्बा खोलती हुई मिनी आई और दरवाज़े की चौखट से टिककर खड़ी हो गई। मनोहर को तकता देख वह मुस्कुरा दी और फिर टिन खोलने लगी। काले लिनन के पेडलपुशर्स पर हाथ की बुनी हुई लाल ऊनी जर्सी पहने, सर के बालों को पोनी टेल में बाँधे, एक पाँव के बल खड़ी और दूसरे को घुटने से कुछ लचकाकर, वह इस अदा से बिस्किट का टिन काट रही थी कि ठीक अमेरिका की जग-प्रख्यात रूपवती अभिनेत्री आन्हा गार्डनर मालूम हो रही थी। ऐसे मोहक पोज़ मनोहर ने केवल विदेशी पत्रिकाओं में—पोषाक और फ़ैशन की पत्रिकाओं में या सिनेमा मैगज़ीनों में ही—देखे थे। सहसा बड़े जोर से हार्न बजा।

मिनी चौक पड़ी और टिन-ओपनर बिस्किट के डिब्बे से फिसलकर उसकी उँगली में चुभ गया।

इसी दम बरामदे के नीचे, कच्चे आँगन में, धूल के बादलों में घिरी, रपटी, दनदनाती हुई जीप चली आई। ब्रेक लगने से पहियों की गति इकबारगी बंद हो गई, पर हाथी के चिंघाड़ने की-सी आवाज़ करते हुए टायर पाँच फुट तक धरती को छीलते, रगड़ते चले गए। फिर एक हलके-से धक्के के साथ जीप स्थिर हो गई। और बानेट के अंदर हाँफते हुए इंजन से गरम-गरम शरारे उठने लगे।

“हलो!” सामने की सीट से उतरते हुए लाल ने ज़ोरों से हाथ हिलाकर कहा और वह नीचे उतरने लगा। उसका नव-युवक साथी दूसरी ओर से नीचे कूद पड़ा।

श्रीवास्तव बरामदे से नीचे उतर आया और बड़े तपाक से लाल से गले मिला। डॉक्टर ने भी आगे बढ़कर हाथ मिलाया।

“बड़ा इंतज़ार था तुम्हारा,” श्रीवास्तव ने कहा। “अगर तुम न आते तो शिकार का सारा मज़ा किरकिरा हो जाता।”

“वाह, आता कैसे नहीं। जबलपुर तार देकर तुम्हें सूचित तो किया था। मेरा तार तुम्हें नहीं मिला क्या?”

“तार न मिलता तो जीप कैसे पहुँचती स्टेशन,” लता ने उत्तर दिया।

“नमस्ते भाभी। कैसी हो।”

“नमस्ते। आइए, आइए; अच्छे वक़्त पर आए। देखिए, आपके लिए चाय बना रही थी।”

सब लोग हँस पड़े।

“खूब ! खूब ! ” लाल ने कहा । “ज़रूर पीऊँगा । दिन भर का भूखा हूँ । आज लंच नहीं नसीब हुआ । रात का खाना ज़रा जल्दी मिल जाए तो मेरे पेट को सुकून आए ।”

“हाँ, हाँ, ज़रूर ! आपके लिए आलू बन रहे हैं । मुझे मालूम है आलू का आपको कितना शौक है ।”

“जीओ, भाभी, जीती रहो ! तुम मुझे आलू खिला दो और मैं तुम सब को हिरन का गोश्त खिलाऊँगा ।”

“हिरन का गोश्त ? ” लता ने साश्चर्य पूछा ।

“हाँ, जीप में डालकर साथ लाया हूँ,” लाल ने गाड़ी की ओर संकेत करके कहा । जॉन ड्राइवर और दो, तीन अन्य नौकर, उमरावसिंह के नेतृत्व में, गाड़ी से हिरन निकाल रहे थे ।

हिरन देखकर लता खुश हो गई । सभी खुश हो गए ।

“कहाँ मारा तुमने ? कहाँ मिल गया यह हिरन ? ” श्रीवास्तव ने पूछा ।

“स्टेशन से हम लोग कोई बारह मील आए होंगे कि अचानक इनकी निगाह इस हिरन पर पड़ी । अरे ! इनका परिचय तो आप लोगों से कराया ही नहीं ! यह हैं मेरे दोस्त, गौतम कपूर । आप लोग इन्हें गौतम कह सकते हैं । बम्बई में यह भी मेरे साथ बर्मा-शेल रिफ़ाइनरी में काम करते हैं । इंजीनियर हैं । मैंने इनसे कहा : मैं शिकार के लिए कान्हा-किसली जा रहा हूँ, तुम भी एक हफ़्ते की छुट्टी लेकर चले चलो, शगल रहेगा । भला आदमी है, मान गया मेरी बात ।” गौतम मुस्कराकर आगे बढ़ा । लाल उपस्थित जनों का परिचय कराने लगा : “आप हैं श्रीवास्तव,

जबलपुर के नामी वकील हैं। आपकी धर्मपत्नी। आप डॉक्टर गुप्ता हैं, नागपुर में आपका अस्पताल है। यह आपके छोटे भाई, मनोहरलाल; यह भी डॉक्टर हैं। वैसे तो बड़े भैया ही काफ़ी थे पर विलायत, अमेरिका और जाने कहाँ-कहाँ से डिग्रियाँ लेकर जब से यह छोटे भैया आकर उनका हाथ बँटाने लगे, तो, मुना है, नागपुर में लोगबाग ने मरना छोड़ दिया है।” सब लोग हँस पड़े। “अरे! मैंने तो देखा ही नहीं—मिनी भी आई है! यह हैं श्रीवास्तव की छोटी बहन—मृणाल; बम्बई में सर जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट्स में पढ़ रही हैं—आर्टिस्ट हैं।”

गौतम ने पुरुषों से हाथ मिलाया था और लता को हाथ जोड़कर नमस्ते की थी। उसी प्रकार उसने मिनी को भी नमस्ते की। नमस्कार के लिए मिनी ने जो हाथ बाँधे तो उसकी लहलुहान उँगली से दो बड़ी-बड़ी लाल-लाल बूँदें थप्प-थप्प करके फ़र्श पर टपक पड़ीं, और गिरते ही इस जोर से फूटीं कि उन दो लहू के धब्बों के अतराफ़ लगभग दो सौ छोटी-छोटी और बिल्कुल ही सुई की नोक की तरह बारोक-बारीक और महीन लाल बूँदनियों का छिड़काव हो गया। गौतम की विस्मित आँखें मिनी के रक्तरंजित हाथ को देखने लगीं।

“टिन-ओपनर चुभ गया,” मिनी ने सविनय मुस्कुराकर कहा।

लहलुहान हाथ देखकर लता चीख पड़ी।

“हाय, हाय! यह क्या मार लिया तुमने? कैसे कट गया हाथ?” कहती हुई वह लपककर आई।

“कुछ नहीं हुआ, भाभी। ज़रा-सा चुभ गया यह ओपनर।”

“घबराने की कोई बात नहीं है। गीले पानी की पट्टी बाँधने से खून अभी रुक जाएगा,” मिनी ने कहा।

मनोहर ने झट-से मिनी का हाथ लेकर उँगली की चोट देखी।

“डेटॉल से साफ़ करके टिक्चर तो लगाना ही होगा,” उसने कहा। “टिन-ओपनर हालाँकि जंग खाया हुआ नहीं, लोहे का तो है; कहीं सेप्टिक हो गया तो मुश्किल हो जाएगी। ऐसी चोट से टिटेनस का भी खतरा रहता है। आओ ड्रेस कर दूँ।”

“जाओ, मिनी, ड्रेस करा लो,” लता ने अनुरोध किया। मनोहर के साथ उँगली को ड्रेसिंग कराने मिनी अंदर चली गई। लाल ने लता की ओर देखकर कहा :

“घबराओ नहीं, भाभी; डॉक्टर मनोहरलाल गुप्ता बड़ा लायक डॉक्टर है। ज़रूम भरते देर नहीं लगेगी। अब चाय पिला दो।”

लता ने मुस्कुराकर चाय बनाई और सब को प्यालियाँ दीं। इसी समय सामने, पास ही धरती की ढाल पर, साम्भर का एक झुंड आकर, अविचलित और निर्द्वन्द्व, हरी दूब चरने लगा।

“कान्हा-किसली क्यों आए आप लोग ? यह तो ‘संरक्षित क्षेत्र’ है। सैक्चुअरी में शिकार खेलना मना नहीं है ?” गौतम ने श्रीवास्तव से पूछा।

“यहाँ पर डाकबँगले की सुविधा थी, इसीलिए यहाँ ठहरने की योजना की गई,” श्रीवास्तव ने कहा। “दक्षिण की ओर तीन मील के बाद सैक्चुअरी के ‘संरक्षित क्षेत्र’ की हद

समाप्त होती है। वहीं पर चार नम्बर का ब्लॉक हमने अपने लिए रिजर्व कराया हुआ है। वहीं खेलेंगे शिकार।”

“तुम लोग कब पहुँचे यहाँ?” लाल ने पूछा।

“सुबह ही तो पहुँचे,” गुप्ता ने उत्तर दिया। “और हम दोनों कल शाम को पहुँचे थे।”

“चार नम्बर में बेट्स बँधवा दिए हैं। कल सुबह तक किल की खबर आने की उम्मीद है। वैसे, खाने के बाद, रात को ड्राइव के लिए निकलेंगे। क्यों, लाल, ठीक है न?” श्रीवास्तव ने पूछा।

“बिलकुल ठीक। लाओ, भाभी, एक कप और दो चाय।”

गौतम सोच रहा था: ‘ज़रा-सी खरोंच थी पर मनोहर ने ड्रेसिंग में बड़ी देर लगा दी।’ दरवाज़े से हटकर उसकी दृष्टि फ़र्श पर पड़ी, जहाँ लहू के धब्बे अब लाल न रह पाए थे; सूखकर उनका रंग पहले बैंगनी हुआ और अब मटमैला हुआ जा रहा था।

“चाय पी चुकने के बाद लाल और गौतम उनके लिए जो कमरा नियुक्त किया गया था उसमें चले गए। नहाने के लिए नौकर गुसलखाने में गरम पानी ले आया।

“आप नहा लीजिए, मैं फिर नहा लूँगा,” गौतम ने कहा।

“तब तक पानी ठंडा हो जाएगा। आओ, साथ ही नहाएँगे,” लाल बोला।

दोनों कपड़े उतारकर गुसलखाने में घुस गए। बालटियों का गरम पानी शरीर पर बहुत अच्छा लगा। लाल अपना भरीभरकम, मोटा शरीर लेकर, पलथी मारकर, चौकी पर

बैठ गया और साबुन मलने लगा। गौतम खड़े-खड़े नहा रहा था।

“मुझे यह स्थान बड़ा पसंद आया,” गौतम ने कहा।

“जानते हो? इसी वन-प्रदेश में कभी दुर्वासा ऋषि का आश्रम हुआ करता था। यहाँ पर लगभग हर प्रकार का जानवर पाया जाता है।”

“बड़ी अच्छी सैक्चुअरी है। रास्ते में जब हमें वह काला हिरन दिखाई दिया तो मुझे बड़ी खुशी हुई। कितना पीछा किया! कितना कुदाया उसे! बड़ा मजा आया उसे मार गिराने में। मगर सैक्चुअरी में प्रवेश करते ही जब साम्भर और चीतल हर थोड़ी दूर पर दल बाँध-बाँधकर जीप के सामने से गुज़रने लगे तो, सच कहता हूँ, शिकार का नशा जाता रहा।”

“बिलकुल ठीक। जब जानवर सामने आकर कहने लगे : आ मुझे गोली मार, तो कौन शिकारी बंदूक दागेगा?”

“सैक्चुअरी में शिकार खेलना किसी जू में जाकर शिकार खेलने के बराबर है।”

“मगर फिर भी ऐसे बहादुरों की कमी नहीं जो चोरी-छिपे सैक्चुअरी में घुसकर जानवर मार ले जाते हैं।”

“यह शिकार नहीं हुआ, हत्या हुई। यहाँ के मूक जानवरों के साथ दगा हुई, धोखेबाजी हुई,” गौतम ने तौलिए से बदन पोंछते हुए कहा। फिर बोला : “श्रीवास्तव को आप कब से जानते हैं?”

“हम दोनों नागपुर में मॉरिस कॉलेज में साथ पढ़ते थे।”

“और डॉ० गुप्ता को?”

“उसी समय से। गुप्ता साइंस कॉलेज में था। समय बीतते देर नहीं लगती। उस दिन को आज तीस साल होने आए..... पर ऐसा लगता है कि कल ही की बात है। अजीब दिन थे वह भी! कोई ज़िम्मेदारी न थी। कोई फ़िफ़ न थी। तमाम वक़्त धींगामस्ती रहती थी —ज़रा वह तौलिया देना, गौतम।”

“गौतम ने रैक पर से साफ़ तौलिया उठाकर लाल को पकड़ा दिया।

“तुम्हारे शरीर की गठन बड़ी बाँकी है,” लाल ने गौतम को सर से पाँव तक निरीक्षणात्मक दृष्टि से ताककर कहा। “रोज़ सुबह वरज़िश करते हो?”

“यही—दस-पंद्रह मिनट। स्पोर्ट्स का मुझे हमेशा शौक़ रहा है।”

“तभी। स्पोर्ट्समैन का बाँडी साफ़ अलग दिखाई देता है। मनोहर तुमसे साल, दो साल छोटा ही होगा मगर तुमसे साल, दो साल बड़ा दिखाई देता है। यह फ़र्क़ वरज़िश और स्पोर्ट्स के कारण ही है।”

गौतम मुस्कराया।

“हो सकता है यह फ़र्क़ मध्य प्रदेश और पंजाब के पानी के कारण हो,” उसने कहा।

लाल हँस पड़ा।

“हाँ,” उसने कहा, “हो सकता है। यह फ़र्क़ पानी का फ़र्क़ हो सकता है।”

लाल और गौतम कपड़े पहनकर जब बरामदे में आए तो बाहद अँधेरा हो रहा था। उमरावसिंह ने पेट्रोमैक्स लाकर बरामदे में एक मेज़ पर रख दिया। सारा बरामदा जगमगा उठा। बरामदे के एक सिरे पर, मोढ़ों पर बैठे, श्रीवास्तव और डॉक्टर गुप्ता द्विस्की पी रहे थे। लाल और गौतम को उन्होंने पुकारा। लाल तो यहाँ आया ही पीने के लिए था। फ़ौरन जाकर उनमें शामिल हो गया। गौतम को पीने से दिलचस्पी न थी; क्षमा माँगकर, वह दूसरी ओर मुड़ा, जहाँ दूसरे जन बैठे गप्पें लगा रहे थे।

“आइए, गौतम जी, ताश खेलें।”

गौतम उनके पास बैठ गया। गौतम लता का पार्टनर हुआ और मनोहर मिनी का। एक पैसा पॉइंट पर ब्रिज का खेल जोरों से छिड़ गया। मनोहर कमाल का ब्रिज खेलता था। गौतम ने ऐसा खिलाड़ी नहीं देखा। न जाने किस तरह अपनी पार्टनर, मिनी, के पत्ते वह हमेशा ही भाँप जाया करता। लता ने मनोहर पर बहुतेरा दोषारोपण किया, भगड़ा किया, चोरी और बेईमानी की, पर अपने पार्टनर को लिए वह बराबर हारती ही चली गई। एक घंटे के खेल के अंत में लता और गौतम एक रुपया और बाईस पैसे मनोहर और मिनी को हार बैठे।

“भाभी तुम बेईमानी बहुत करती हो।”

“बग़ैर बेईमानी किए ताश के खेल में कभी मज़ा आता है?” लता ने हँसकर उत्तर दिया।

लता थी बड़ी हँस-मुख। हमेशा खुश रहती थी।

चार बच्चों की माँ थी। बड़ा लड़का बम्बई में डॉक्टरी पढ़ रहा था; छोटा दून स्कूल में था; उनसे छोटी लड़कियाँ थीं, जो जबलपुर में कॉनवेंट स्कूल में पढ़ रही थीं। लता की उम्र लगभग पैंतालीस के रही होगी, पर देखने में वह पैंतीस से अधिक नहीं मालूम होती थी। शिकार का उसे हमेशा ही शौक रहा था। पति के साथ वह अक्सर शिकार पर जाती रही थी। एक चीता भी मार चुकी थी, जिसके चमड़े का बनवाया हुआ कोट पहनकर वह सर्दी के दिनों में पार्टियों में जाया करती थी। यह कोट उसने बड़े जतन से सम्हाल कर रखा था; और यही कोट पहनकर गौतम के साथ वह अभी-अभी मनोहर और मिनी को एक रुपया, बाईस पैसे हार चुकी थी और, सच्चे खिलाड़ी की तरह, अपनी हार पर रो नहीं, हँस रही थी। खेल के अंतरिम एक विशेष बात हुई, वही बात जो ताश के खेल में अक्सर हुआ करती है—चारों खिलाड़ी परस्पर विलकुल बेतकल्लुफी बरतने लगे, परस्पर एक दूसरे के निकट आ गए और 'आप' से 'तुम' पर उतर आए और मिनी की भाभी, लता, उन दोनों नवयुवकों की भी भाभी बन बैठी।

रात का खाना जल्दी ही खाया गया। हिरन की लगभग पूरी टाँग लाल अकेला साफ़ कर गया। आलू उसने अलग से छके। वह जिस क्रूर पीता था उसी क्रूर खाता भी था। खाना समाप्त होते-होते उमरावसिंह ने आकर सूचना दी कि बाहर जीप तैयार खड़ी है।

“चलिए, थोड़ी सैर कर आएँ। मुमकिन है एक-आध बोदा

अपने खूंट से गायब हो," श्रीवास्तव ने कहा।

जब सब लोग गरम-गरम कपड़े पहने खुली छतवाली जीप में आकर बैठे तो अंधकार में, पास ही कहीं से, शायद सामने ढाल पर, जहाँ शाम को साम्भर का दल दूब चर रहा था, सियार बोलने लगे।

"सर्च-लाइट बराबर जलता है न?" लता ने जॉन से पूछा।

"जी हाँ," उसने उत्तर दिया।

"तो चलो," श्रीवास्तव बोला।

उमरावसिंह तुरंत ही उचककर जीप के पिछले कोने में दुबककर बैठ गया और फिर जीप वहाँ से चल पड़ी। घूमकर ज्यों ही जीप डाकबँगले के पीछे कच्ची सड़क पर आई, ठंडी हवा तीर की तरह छाती में लगी। लोगों ने अपने-अपने कोट के कॉलर उलटाए। श्रीवास्तव ने अपनी राइफल लाल को पकड़ाकर चुरट सुलगाया।

"मज्जा आ गया," लाल ने कहा, "अच्छी ठंडी हवा है!"

"जी हाँ!" पीछे बैठी हुई लता ने कहा, "पाव भर ह्विस्की पेट में हो तो ठंडी हवा अच्छी ही लगेगी। यहाँ तो हमारी नाक छिली जा रही है।"

सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े। पर सबसे जोर का ठहाका लाल का था। वह जैसे पीता और खाता था वैसे ही हँसता भी था। यानी डटकर हँसता था।

कान्हा-किसली डाकबँगले के आसपास का वह वन-प्रदेश, जो दिन के उजाले में इतना सुन्दर और रम्य प्रतीत हो रहा

था, इस समय, रात के अँधेरे में, बीहड़ और भयानक लगने लगा। चाँद अभी तक उन सघन पेड़ों के पीछे से बाहर न निकला था। चारों ओर घोर अंधकार था और अंधकार के पीछे सतत फैला हुआ, उस अंधकार से भी काला, वन नवम्बर की ठंड में निस्तब्ध खड़ा ठिठुर रहा था; और वन की उस अद्भुत निस्तब्धता को भंग करती हुई जीप, सामने साँप की केंचुली की तरह पड़ी हुई कच्ची सड़क पर घरघराती चली जा रही थी।

सहसा लाल खरटि लेने लगा। बाजू में बैठे हुए श्रीवास्तव ने उसकी घुटी चाँद पर हलकी-सी चपत लगाई। लाल चौंककर सचेत हो गया और फ़ौरन श्रीवास्तव को राइफल पकड़ाने लगा। सब जने हँस पड़े।

“तुम्हें सोने की मनाही नहीं पर खरटि तो न लो,” श्रीवास्तव ने कहा।

लाल मुस्कुराया, पर फ़ौरन ही सर लटकाकर फिर सो गया। गाड़ी में बैठते ही सो जाने की लाल की पुरानी आदत थी। इसीलिए हमेशा उसे सामने बीच की सीट दी जाती और श्रीवास्तव उसके बाजू में बैठता, अपनी राइफल उसे पकड़ा देता। श्रीवास्तव और ड्राइवर के बीच बैठा हुआ लाल जीप के चलते ही मिनट भर में सो जाया करता और उसके हाथों में पड़ी हुई श्रीवास्तव की थर्टी स्प्रिंग फ़ील्ड राइफल और उसकी निज की पॉइंट टू-टू जीप की उच्चकन से आपस में टकराकर खनखनाया करतीं। जब कभी जीप रुकती, तुरंत ही लाल चौंककर सचेत हो जाता और तुरंत ही दाएँ हाथ की राइफल श्रीवास्तव को थमा देता। गाड़ी के हेडलाइट या सर्चलाइट के ज़द में आए हुए

जानवर का शिकार किया जाता। फिर जब गाड़ी चलती तो अपनी और श्रीवास्तव की बंदूकें थामे लाल फिर सो जाता। शिकार पर गोया लाल बिल्कुल ही निकम्मा साथी था, जो गाड़ी पर या मचान पर बैठते ही सो जाता था और गाड़ी के ब्रेक लगने या बंदूक दागने की आवाज से चौंककर जागा करता था। शिकार खेलना उसके बूते की बात न थी। एक गिद्ध के सिवा उसने और कभी कुछ नहीं मार गिराया था; और गिद्ध भी इसलिए हाथ लगा था कि उसका एक बाजू पहले ही से नाकाम था और लाल की टू-टू में आधे दर्जन से अधिक गोलियाँ भरी पड़ी थीं। मगर लाल को शिकार पर किसी के साथ चले चलने का बड़ा शौक था। इसीलिए श्रीवास्तव जब कभी उसे शिकार पर साथ चलने को बुलाता, लाल फ़ौरन अपनी चिड़िया मारने की टू-टू साथ लिए उपस्थित हो जाता और शेर की शिकार को, श्रीवास्तव के साथ जीप में बैठा भपकियाँ लेता हुआ, बीहड़ से बीहड़ वन में बेधड़क घूमता फिरता। लाल जितना निकम्मा शिकारी था उतना ही दिलचस्प आदमी था। इसीलिए शिकार का दौरा बिना लाल के श्रीवास्तव को हमेशा अर्चितनीय लगा; और लाल हमेशा ही शिकार पर साथ रहा। इसीलिए वह आज भी साथ था और सामने की सीट पर, दो जनों के बीच, दोनों हाथों में दो बंदूकें थामे, वह सो रहा था। पीछे आमने-सामने दो लम्बी सीटें थीं। एक पर मिनी, लता और मनोहर बैठे हुए थे; और दूसरी पर गौतम, डॉ० गुप्ता और उमरावसिंह।

पुलिया के पास जब गाड़ी पहुँची तो सहसा सचंचलाइट की पेंनी किरणों में दो आँखें चमक उठीं और लता ने धीमे-से आवाज

दी। तुरंत ही ब्रेक लगा और जीप एक, दो झटके खाकर रुक गई। लाल जाग पड़ा।

“अपनावाला बोदा है, सरकार,” उमरावसिंह ने कहा।

“ओह! नम्बर चार का ब्लॉक आ गया क्या?” श्रीवास्तव ने पूछा।”

“जी, सरकार; ये सब नम्बर चारई तो है। यहाँ से एक फर्लांग पर नाला है, सरकार। वहाँ पर दूसरा बोदा बँधा है।”

गाड़ी फिर चलने लगी।

“कितना बजा होगा?” मिनी ने पूछा।

बाजू में बैठे हुए गौतम ने अपनी घड़ी के रेडिअम डायल पर नज़र गड़ाकर देखा।

“सवा-दस,” उसने कहा।

नाले के ऊपर नीम से दूसरा बोदा भी अब तक सुरक्षित बँधा पड़ा था।

“बकरी कहाँ पर बाँधी है?”

“भाड़ी में, सरकार। देखना हो तो उतरकर चलना पड़ेगा, सरकार। चलिएगा?”

“नहीं रहने दो।”

“अभी तक तो जानवर सही सलामत मालूम पड़ते हैं,” श्रीवास्तव ने कहा। “क्या किया जाय? थोड़ी दूर आगे और चलें या अब लौट जाएँ?”

“मैं समझती हूँ अब लौटा जाय,” लता ने कहा।

जीप मुड़ी और चल पड़ी—डाकबँगले की ओर। मील भर

भी न गई होगी कि हेडलाइट के प्रकाश में, सामने सड़क पर ही चार, पाँच सूअर बैठे दिखाई दिए। जॉन ने खट-से गाड़ी रोकी और दन से मनोहर की राइफल छूट पड़ी। एक सूअर गिर पड़ा बाक़ी भागने लगे। इसी समय श्रीवास्तव की राइफल भी दनदना उठी। एक सूअर और गिरा पर गिरते ही उठ खड़ा हुआ। अपने साथियों के पीछे-पीछे लँगड़ाता हुआ भागने लगा। मनोहर और श्रीवास्तव ने उन भागते हुए सूअरों पर फिर बंदूकें दागीं। सारा जंगल गूँज उठा पर सूअर भाग ही निकले और घनी झाड़ियों में लुप्त हो गए।

“चलो, एक तो हाथ लगा!” लता ने उत्तेजित हो कहा।

“यह तुम्हारा शिकार है, मनोहर,” श्रीवास्तव बोला।

मनोहर अपनी सफलता पर मुस्कुराया। उसने देखा, मिनी उसी की ओर ताक रही थी। खुश-खुश उसने मनोहर की राइफल की नली को छूआ। छूते ही हाथ हटा लिया।

“गरम है नली!” उसने कहा।

लोग जीप से उतर पड़े। उमराव और जॉन घसीटकर सूअर को गाड़ी के पास लाये और अन्य लोगों की सहायता से उन्होंने वह भारी-भरकम सूअर जीप में रख दिया। जीप फिर चल पड़ी।

“चलो कल के लंच का बन्दोबस्त हो गया,” लाल ने श्रीवास्तव की राइफल लेते हुए कहा।

“ढेर-से बैठे थे और एक ही गिरा!” श्रीवास्तव ने असंतोष प्रकट करते हुए कहा। “कम्बख्त सारे के सारे भाग गए। तुमने फ़ायर नहीं किया, गौतम!”

“जी में बंदूक साथ नहीं लाया,” गौतम ने कहा।

“क्यों ? शाम को जब तुम आए थे तब तो तुम्हारे हाथ में राइफल देखी थी।”

“जी हाँ, मेरे पास राइफल तो है पर मैं अभी जीप में नहीं लाया।”

“क्यों ? लाना भूल गए क्या ?”

गौतम चुप रहा पर लाल बोल पड़ा।

“यह बहादुर रात को सर्चलाइट के प्रकाश में शिकार नहीं करता। इसका कहना है, लाइट में जानवर की आँखें चौंधिया जाती हैं और वह दिशा-ज्ञान रहित होकर खड़ा का खड़ा रह जाता है। फिर उस पर गोली चलाने को यह शिकार नहीं समझता।”

श्रीवास्तव हँसने लगा।

“हाँ, बात है तो दुरुस्त। रात में सर्चलाइट या हेडलाइट के सहारे शिकार खेलना वाकई शिकार नहीं है। पर क्या करें ?”

“खाली हाथ लौटने से तो अच्छा ही है कि कुछ मारते चलें। समझ लेंगे चाँदमारी ही हो गई,” मनोहर ने कहा।

“खाली हाथ लौटने के लिए थोड़े ही ठंडी हवा में यह नाक छिलाई जा रही है,” लता ने हँसकर कहा।

“भाभी, कल अपने हाथ से बनाना यह सूअर। मुझे तो इसे देखते ही फिर भूख लग आई।”

सब जने हँस पड़े।

अँधेरी रात में, उस सघन वन के बीच, कच्ची सड़क पर, जीप घरघराती हुई चली जा रही थी।

गौतम ने सिगरेट मुँह से लगाकर माचिस जलाई। सिगरेट सुलगाते-सुलगाते सहसा उसने अनुभव किया कि उस पर किसी की दृष्टि जमी हुई है। उसने नज़र उठाकर सलाई के धुँधले प्रकाश में देखा, सामने ही बैठी हुई मिनी उसे ताक रही थी। दो क्षण दोनों की आँखें चार हुईं पर इतने में सलाई बुझ चुकी थी। सलाई के बुझने से पहले उसने कुछ और अनायास ही देख लिया था। उसने देखा था कि मिनी और लता के बीच बैठा हुआ मनोहर मिनी पर स्निग्ध दृष्टि जमाए हुए था। एक बात उसने और देखी थी। वह यह कि मिनी और मनोहर के बीच कोई अंतर न था, वह उससे सटा हुआ बैठा था, पर उसके और लता के बीच डेढ़ फुट का अंतर था, जिसमें एक व्यक्ति के बैठने की जगह खाली थी।

इसी समय शेर की दहाड़ से सारा जंगल काँप उठा।

“रोको, रोको”, कहता हुआ लाल जाग पड़ा और श्रीवास्तव को बंदूक थमाने लगा।

“नहीं, चलने दो,” श्रीवास्तव ने कहा।

“काहे की आवाज़ थी?” लाल ने विस्मित हो पूछा।

“शेर की दहाड़ थी,” श्रीवास्तव ने कहा।

शेर फिर गरजा।

किनारे पर बैठी हुई लता, मनोहर के पास खिसक आई।

“यह तो कहीं नज़दीक-पास ही मालूम होता है;” वह बोली।

“बापरे!” मिनी ने कहा। “हमारी जीप बिलकुल खुली है। कहीं छलाँग लगाकर अंदर आ गया तो?”

मनोहर ने अपनी राइफल सँभाली।

गौतम मुस्कुराया, बोला :

“यहाँ से कम से कम आध मील के फ़ासले पर है यह शेर।”

“सच ?” मिनी ने साश्चर्य पूछा।

और तब एक और दहाड़ सुनाई दी।

“पास है—बहुत पास से आई है दहाड़,” मनोहर ने कहा।

“शायद शेर ने हमें देख लिया है और हमारा पीछा कर रहा है।”

श्रीवास्तव और मनोहर ने अपनी-अपनी राइफलों के बोल्ट खींचकर गोलियाँ चेम्बर में लाईं। लता ने अपनी ट्वेल्व-बोर को हाथ में साधकर पकड़ा। दहाड़ फिर आई।

“ड्राइवर, गाड़ी खूब तेज़ चलाओ,” लता ने जॉन से कहा।
अँधेरे में पता भी न चलेगा कि कहाँ है और—और वह हम पर उछल पड़ेगा।”

“घबराइए नहीं,” गौतम ने कहा। “उसने हमें नहीं देखा है। और अगर देखा भी है तो भी वह हमारा पीछा नहीं कर रहा है।”

“तुमने सुना नहीं ? पहले कितनी दूर थी आवाज़ और अबकी कितने पास से आई। ज़रूर वह छलाँगें भरता हुआ आ रहा है,” मनोहर ने कहा।

“पहली दहाड़ोंवाला शेर दूसरा था और आखिरीवाली दहाड़ किसी और शेर की थी,” गौतम बोला और अविचलित भाव से सिगरेट पीने लगा।

इसी समय फिर गर्जना हुई। मिनी ने शेर—गर्जना जू में सुनी थी, सर्कस में सुनी थी, जंगल में आज वह पहली बार ही

सुन रही थी। रात के सन्नाटे में शेर की यह प्रचंड कंठ-ध्वनि घोरतम भयंकर थी।

“यह तो बहुत पास आ गया है!” मिनी ने कहा।

“यह शेर इस तरफ़ एक फ़र्लांग पर होगा,” गौतम ने कहा।

पहलावाला शेर फिर गरजा। यह आवाज़ ज़रा दूर से थी। जीप के दूसरी ओर इशारा करते हुए गौतम ने कहा :

“और यह शेर इस तरफ़ है, करीब आधा मील दूर पर।”

“क्या दो शेर हैं?” मिनी ने पूछा।

“हाँ, दो हैं,” गौतम ने उत्तर दिया।

फिर दोनों ओर से दहाड़ों पर दहाड़ें शुरू हो गईं। कभी रह-रहकर होतीं और कभी लगातार। और इस प्रचंड नाद के बीच जीप सरपट भागी जा रही थी। थोड़ी देर में दोनों गर्जनाएँ पीछे को रह गईं।

“उफ !” लाल ने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा। “बच गए वरना इस अँधेरी रात में बुरे फँसे थे आज।”

“एक भी हो तो कोई मुक्काबला करे, पर एक साथ दो-दो शेर !” मनोहर ने कहा।

“शेर एक ही था,” गौतम ने कहा। “दूसरी शेरनी थी।”

मिनी ने साश्चर्य गौतम की ओर देखा।

“ज़रूर हमें देख लिया था”, लता ने कहा।

“वह तो साफ़ है,” मनोहर बोला।

“शायद नहीं देखा था,” गौतम ने कहा।

“फिर दोनों के दोनों एक साथ गरज क्यों उठे ?” मिनी ने पूछा।

गौतम मुस्कुराया।

“एक साथ नहीं गरज उठे। पहले एक ने आवाज़ लगाई। तब दूसरे ने उसका जवाब दिया। यह महीना शेरनी के गर्भादान का समय है। यह उनका रति-काल है। नर दहाड़ लगाकर जंगल में अपनी उपस्थिति जतला रहा है ताकि उस जंगल में अगर कोई मादा हो तो वह जवाब दे। शेर की दहाड़ सुनकर शेरनी, प्रणयातुर हो, उत्तर दे रही है। एक दूसरे की प्रणय-याचना सुनकर दोनों को एक दूसरे का दिशा-ज्ञान हो रहा है और दोनों एक दूसरे के पास पहुँचते जा रहे हैं।”

“तुम ठीक कह रहे हो, गौतम,” श्रीवास्तव ने कहा। “नवम्बर और फ़रवरी के महीने शेर-शेरनी के ‘मेटिंग सीज़न’ के महीने हैं।”

“अच्छा ! तो उनका रोमांस चल रहा है !” लाल बोल उठा।

सब जने हँस पड़े।

“तुम्हें तो शेरों के बारे में काफ़ी ज्ञान है, गौतम ! शेर मारा है कभी ?” लता ने पूछा।

“जी।”

“कितने ?”

“चार।”

“अच्छा ! तब तो तुम बड़े शिकारी हो !” श्रीवास्तव ने पीछे मुड़कर सराहते हुए कहा।

जीप जब डाकबँगले पहुँची तो गौतम की घड़ी के रेडिअम डायल पर पूरे बारह बज रहे थे।

लोग थके हुए थे; जाते ही बिस्तर पर पड़ गए।

“मनोहर तो मिनी की तरफ़ काफ़ी झुक चला है,” लता ने पति के कानों में फुसफुसाया। “अच्छा हुआ तुम मिनी को शिकार पर साथ ले आए।”

“शिकार का बंदोबस्त ही मैंने, इसलिए किया था कि दोनों एक दूसरे को देख सकें और उन्हें एक दूसरे को समझने का मौक़ा मिले।”

“अच्छा, यह बात थी! तुमने मुझे दिल की बात बताई नहीं!”

श्रीवास्तव मुस्कुराया। उसकी योजना सफल हुई थी। उसकी कुआँरी बहन के लिए उपयुक्त वर प्राप्त हो गया था।

“मनोहर गुप्ता का नागपुर में काफ़ी नाम हो चला है,” उसने कहा। “दो, तीन साल में, मुमकिन है, वह नागपुर का सबसे बड़ा डॉक्टर कहलाने लगे। अभी उसकी उमर ही क्या है। तीन साल हुए प्रैक्टिस शुरू करने को, पर हजार-पंद्रह सौ महीना अकेले को मिल जाता है। भाई की भी इतनी ही आमदनी होगी। पर बड़े भाई से यह छोटा भाई कहीं तेज़ है।”

उसी कमरे में, एक सिरे पर, तीसरे पलंग पर पड़ी हुई मिनी, लालटेन के प्रकाश में, साथ लाई हुई रीडर्स डाइजेस्ट देख रही थी। सोने से पहले कुछ पढ़ने की उसकी आदत थी।

दूसरे कमरे में डॉक्टर गुप्ता और उसका छोटा भाई, मनोहर, सोए पड़े थे। और तीसरे कमरे में, अपने पलंग पर

पड़ा, लाल खरटि ले रहा था। उसके बाजूवाला पलंग गौतम का था जो खाली था।

कमरे के बाहर, बरामदे में एक मोढ़े पर बैठा हुआ, गौतम सिगरेट फूँक रहा था और उसकी दृष्टि सामने सघन वन के विस्तार को देख रही थी, जो अभी-अभी निकलकर आकाश के एक ओर पतंग की तरह तने हुए, अर्द्धचंद्र की फीकी, महीन चाँदनी में झिलमिला रहा था। कड़ाके की सर्दी थी। गौतम के अतिरिक्त सब जने सो रहे थे। सारा वन सो रहा था। वन के समस्त जीव-जन्तु सो रहे थे। केवल दो मील की दूरी पर प्रणय-विभोर शेर का जोड़ा रह-रहकर दहाड़ उठता था। शेर की सादी दहाड़ और उसकी प्रणयपूर्ण दहाड़ में बड़ा अंतर था। यह अंतर डाकबंगले के बरामदे में मोढ़े पर बैठे-बैठे सिगरेट धुनकता हुआ गौतम खूब समझता था। पर वह शेरों के या उनकी दहाड़ों के विषय में नहीं सोच रहा था। वह सोच रहा था उन आँखों के विषय में जो उसने, जीप के अन्दर अपनी सिगरेट सुलगाते समय माचिस के धुँधले प्रकाश में, देखी थीं। वह लहू-लुहान हाथ रह-रहकर उसकी आँखों के सामने आ जाता था जिसे जोड़कर आज तीसरे पहर किसी ने उसे नमस्कार किया था। और वह सोच रहा था लहू के उन धब्बों के बारे में जो तुरंत ही सूखकर बैंगनी और फिर मटमैले हो गए थे.....

न जाने मोढ़े पर बैठा-बैठा गौतम कब तक अपने विचारों के जाल तनता रहा।

उधर छाती पर मैगज़ीन धरे-धरे मिनी सो गई थी। उसने करवट बदली तो मैगज़ीन के पन्ने पापड़ की तरह उसकी

छाती के नीचे दबकर चरमराने लगे, रज़ाई सरककर फिसल गई और मिनी की पीठ पर कोई ओढ़न न रहा। न जाने छाती तले चुभती हुई मैगज़ीन के कारण या ठंड की शिद्दत के कारण सहसा मिनी की नींद उचट गई। उसने मैगज़ीन खींचकर मेज़ पर रखी, बत्ती की लौ छोटी की, और रज़ाई ठीक-से ओढ़कर सोने के लिए आँखें बन्द ही कर रही थी कि दहाड़ फिर सुनाई दी। भपकती हुई आँखें खुल गईं। वह जानती थी यह गर्जन डाकबँगले से दो मील दूरी पर हो रहा था। रात में आवाज़ की पहुँच कितनी बढ़ जाती है ! अँधेरे कमरे की खिड़की से उसने देखा बाहर हलकी-हलकी चाँदनी भर रही थी। उसे नींद न आई। वह जीप में की गई सैर के बारे में सोचने लगी : जीप के हेडलाइट की उस तेजस्वी रेखा में सड़क पर निश्चिन्त बैठे हुए सूअरों का समूह घरघराहट सुन किस तरह हड़बड़ाकर उठ बैठा था; और किस तरह दिशा-ज्ञान से रहित और किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर, शिलाखंड की नाईं अचल खड़ा-खड़ा प्रकाश को चमचमाती आँखों से तका जा रहा था; और किस तरह राइफल दनदना उठी थी; और किस तरह गोली खाकर उस अडिग शिलाखंड का एक हिस्सा टूटकर धड़ाम से धरती पर उलट पड़ा था और बाक़ी का शिलाखंड टुकड़े-टुकड़े होकर, थोड़ी देर को तितरबितर हो, फिर पंक्ति बाँधकर एक ओर निकल गया था; और किस तरह मनोहरवाली राइफल की सफ़ेद सफ़ेद धुआँ उगलती हुई फ़ौलाद की काली नली, जो घड़ी भर पहले बर्फ़ जैसी ठंडी थी, एकदम गरम हो उठी थी; और किस तरह उसके सामने बैठा हुआ गौतम उन मूक प्राणियों की, प्रकाश

द्वारा उन्हें अंधाकर, की जानेवाली इस छलावे की शिकार से अपने को बिलकुल ही पृथक् रखकर मन ही मन, उन शिकारियों पर हँसता हुआ और उनके निशाने की मन ही मन उपेक्षा, अवहेलना करता हुआ चुपचाप सिगरेट सुलगा रहा था।

मिनी की नींद बिलकुल ही उचट गई। उठकर वह सिरहाने की खिड़की के पास आकर खड़ी हो गई और बाहर को देखने लगी। दृश्य बहुत ही सुन्दर था। प्रकृति की ऐसी अपूर्व छटा उसने पहले कभी न देखी थी। बहुतेरे सूर्योदय देखे थे, बहुतेरे सूर्यास्त देखे थे, बहुतेरी चाँदनी रातें देखी थीं; पर सर्दियों की इस रुपहली रात में निखरा हुआ यह प्राकृतिक सौन्दर्य बिलकुल ही विचित्र था। नग्न प्रकृति, नववधू की नाईं, प्रणय-बद्ध हो बेसुध पड़ी थी। और डाकबँगले के बाहर, उस सघन वन के समस्त जीव-जन्तु जब सर्दियों की उस मौन रात में दुबककर भाड़ियों और गुफाओं में निश्चिन्त सो रहे थे, वन-सम्राट् कहानेवाले दो हिंस्र पशुओं का वह राजसी प्रेमालाप अत्यन्त ही अद्भुत और अद्वितीय लग रहा था; मानो समस्त सृष्टि के मूल में प्रेम और काम-भावना ही एकमात्र अटल प्राकृतिक तथ्य है.

मिनी खिड़की पर खड़ी-खड़ी यही सब सोच रही थी कि उसके शरीर में भरभरी-सी होने लगी और कानों में गरम-गरम लगने लगा। बहुत सारी ठंडी हवा अन्दर लेने के लिए उसने एक लम्बी साँस ली तो हवा में उसे सिगरेट के धुएँ की गंध आई। इसी समय बाहर बेंत का मोढ़ा चरमराया और उसे लगा कि मोढ़े पर बैठे हुए व्यक्ति ने पत्थर के फ़र्श पर अपनी जूते भरी

टांगें फैलाकर सीधी की हैं। इतनी रात गए इस सर्दी में बाहर बरामदे में बैठा कौन सिगरेट पी रहा होगा? मनोहर तो सिगरेट नहीं पीता और न लाल ही सिगरेट पीता है। डॉक्टर गुप्ता इतनी रात को बाहर न निकलेंगे। अवश्य ही यह गौतम होना चाहिए। उसने भाँककर देखा, पर कुछ दिखाई न दिया। उसका कौतूहल बढ़ा। बाजू के दरवाजे के पट खुले हुए थे और उस पर पड़ा हुआ पर्दा प्रभाती हवा के मंद-मंद झोंकों में आन्दोलित हो रहा था। कोई अज्ञात शक्ति उसे बाहर की ओर खींचने लगी। काँपते हुए दिल से वह दरवाजे की ओर बढ़ी और पर्दे से सर निकालकर उसने बरामदे में उस ओर देखा जिधर से मोढ़े की आवाज़ आई थी। मोढ़े पर बैठी हुई एक आकृति दिखाई दी। आकृति गौतम की थी। मिनी बरामदे के बीच चली आई। उसने देखा मोढ़े पर बैठा गौतम सिगरेट का कश ले रहा था और सिगरेट की आभा में चमचमाती आँखें उसी की ओर ताक रही थीं। मिनी कुछ ठिठकी, कुछ सहमी, फिर उसकी ओर बढ़ने लगी। गौतम उठकर खड़ा हो गया।

“तुम इतनी सर्दी में क्यों बैठे हुए हो?” बहुत ही आहिस्ते-से मिनी ने पूछा।

“सिगरेट पीने बाहर आया था,” गौतम ने कहा। “कितनी सुहानी रात है!”

“बड़ी अच्छी है!”

दोनों की आँखें उस अँधेरे में क्षण भर को मिलीं।

“तुम कौनसा सेंट लगाती हो?” गौतम ने सहसा पूछा।

मिनी ने आँखें हटा लीं।

“क्यों?” उसने कहा।

“बड़ा अच्छा है! तुम—कुछ देर से खिड़की पर खड़ी थीं न?”

“हाँ; तुम्हें कैसे पता?” मिनी ने साश्चर्य पूछा।

गौतम मुस्कुराया।

“हवा के भोंकों ने कहा मुझसे। हवा इधर की थी,” वह बोला। “पर सदीं में तुम बाहर क्यों निकलीं?”

“देखने के लिए।”

“क्या?”

“कि बाहर कौन बैठा सिगरेट पी रहा है।”

“तुम्हें कैसे पता कि कोई सिगरेट पी रहा है?”

मिनी मुस्कुराई।

“हवा के भोंकों ने कहा,” वह बोली।

दहाड़ फिर आई। तीन, चार बार गर्जना होने के बाद गर्जन गुराहित और खाँसी में परिवर्तित हो गया और फिर वातावरण मौन हो गया।

पर इसी समय एक और खाँसी आई, बड़े जोर की खाँसी, ठसकेवाली खाँसी, जैसे बहुत सारा बलगम गले में फँसा हुआ हो। यह खाँसी कमरे के भीतर से आई थी। लाल खाँस रहा था।

“मैं चलूँ, बहुत सदीं है,” मिनी ने कहा और चलने को हुई, पर सहसा गौतम ने उसे पकड़ लिया।

“क्या करते हो!” सहमी हुई मिनी ने अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए कहा।

“मैं देखना चाहता हूँ यह खुशबू कहाँ से आती है,” गौतम ने मुँह लगभग उसके कान से लगाकर बहुत ही धीमे-से और उस वाणी में कहा जिसमें प्रेमीगण अपनी प्रेमिकाओं को प्रेम-पाश में लेकर प्रेमालाप करते हैं।

“अगर मैं चिल्लाऊँ तो जानते हो क्या होगा ?” मिनी ने झूझा करते हुए पूछा।

“चिल्लाकर देखो तो पता चले। वैसे कहना मुश्किल है।”

मिनी अपने को गौतम की पकड़ से न छुड़ा सकी। शिथिल होकर वह चुप हो गई और गौतम की आँखों में असहाय-सी देखने लगी। गौतम ने उसे छोड़ दिया।

“जाओ,” उसने कहा, “जाकर सो जाओ। सुबह होनेवाली है।” मिनी चली गई।

गौतम भी अंदर आकर अपने पलंग पर जूते और शिकारी कपड़ों समेत लेट गया और फिर उसने ऊपर से कम्बल खींच लिया।

सुबह जब सब लोग ब्रेकफ़ास्ट कर रहे थे तो डाकबँगले के सामनेवाले आम पर मोर बोलने लगा। छप्पर पर और दूसरे पेड़ों पर दूसरे असंख्य पक्षी चहक रहे थे। चारों ओर फैले हुए वन से एक विलक्षण मधुर कोलाहल उठ रहा था, जो वनैले, विभिन्न प्राणियों की कंठ-ध्वनि, उनके भागने-दौड़ने की खुर-खुराहट, पक्षियों का कलरव, तथा पत्तों की मरमराहट का बहुत ही कर्णप्रिय, सुखद और हृदयव्यापक सम्मिश्रण था। ब्रेकफ़ास्ट खाती हुई मिनी को लगा कि रात की वह मौन प्रकृति दिन में सवाक् हो उठी है। मनोहर की बगल में बैठे वह ब्रेकफ़ास्ट खा

रही थी। गौतम उसके सामने बैठा था। मिनी ने एक बार भी गौतम की ओर न देखा। मनोहर से बातें करती वह खाए जा रही थी।

बाहर को देखकर लता ने कहा :

“उमराव आ रहा है।”

श्रीवास्तव कौतूहलवश टेबल पर से उठ खड़ा हुआ और लपककर द्वार पर जा पहुँचा।

“क्या खबर है, उमराव ?” उसने ज़ोरों से आवाज़ लगाकर पूछा।

“अच्छी खबर है, सरकार। एक बोदा मारा गया,” दूर से आवाज़ आई।

यह सुनते ही टेबल पर हलचल मच गई।

“बोदा मारा गया है !” लता ने उत्तेजित हो कहा।

“मुझे लग ही रहा था कि एक न एक जरूर मारा जाएगा। पास ही तो शेर मँडरा रहे थे। मारा कैसे न जाता ?” मनोहर ने मिनी से कहा।

“मुझे भी लग रहा था,” मिनी ने प्रसन्न हो कहा। सहसा उसकी दृष्टि जो सामने पड़ी तो गौतम से आँखें चार हो गईं। मिनी ने आँख हटा ली और इसी समय उमरावसिंह बरामदे में आ पहुँचा।

श्रीवास्तव वापस आकर अपनी कुरसी पर बैठ गया और प्लेट में छोड़ा हुआ आधा ऑमलेट काँटे से काटने लगा। उमराव-सिंह को बरामदे में देखकर उसने पूछा :

“कौन-सा बोदा मारा गया, उमराव ?”

“नालेवाला, सरकार। मैंने कहा न था, सरकार, कि नाले में है सैर? मारकर आधा खा गया और नाले की तरफ खींचकर ले गया है। जमीन पर पाँव के बहुत सारे निसान हैं, सरकार। जाकर हम लोगों ने जो देखा तो एक करंजी के भाड़ के नीचे आधा खाया हुआ बोदा पत्तों से ढँका पड़ा था।”

“ठीक है!” श्रीवास्तव ने स्रन्तोष की साँस ली। “दूसरा बोदा और वह बकरी छोड़कर वापस ले आए?”

“जी सरकार, गाँव के दो जने मेरे साथ थे, वो ला रहे हैं पीछे-पीछे। मैं तुरत दौड़कर आपको खबर देने आया, सरकार।”

“अच्छा किया। तो अब तुम्हें मालूम है न मचान कहाँ बँधेंगे?”

“जी, सरकार। कितने मचान बँधवाऊँ, सरकार?”

“तुम्हारा खयाल है शेर नाले में है?” गौतम ने पूछा।

“जी, सब, निसान तो उधर को ई गए हैं।”

“यह जरूरी थोड़े ही है कि शेर जिधर से गया है लौटेगा भी उधर से ही,” मनोहर बोला।

“हाँ, ठीक है,” श्रीवास्तव ने मनोहर का समर्थन किया। “आखिर आएगा तो बोदे पर ही! देखो, उमराव, तीन मचान बँधेंगे।”

“तीनों बोदे के ऊपरई बँधेंगे, सरकार?”

“बोदे के ऊपर ही।”

“तो मैं जल्दी से नास्ता-पानी करके जाता हूँ, सरकार?”

“जल्दी करो। हम लोग तीन बजे तक आकर मचान पर बैठ जाना चाहते हैं।”

“समझ गया, सरकार।”

“और देखो, मचान बनाते वक़्त शोरोगुल न होने पाए। खटका हुआ तो शेर चौकन्ना हो जाएगा और फिर बोदे पर न आएगा।”

“समझ गया, सरकार।”

“जाओ, जल्दी।”

उमरावसिंह चला गया।

“न जाने क्यों मुझे लग रहा है कि आज एक नहीं दो शेर मरेंगे,” लता ने खुश-खुश कहा।

“ऐसा लगने का कारण, है, भाभी,” लाल बोला।

“क्या कारण है?”

“रात को तुमने दो शेर जो दहाड़ते सुने थे। उन्हीं ने बोदे पर हाथ साफ़ किए हैं, समझीं?”

थोड़ी देर बाद लोग इधर-उधर हो गए। कोई पैदल टहलने लगा, कोई अखबार पढ़ने लगा। लता ने मनोहर और गौतम को ताश खेलने के लिए पुकारा पर मिनी, यह कहकर कि आज खेलने को तबीअत नहीं कर रही, खिसक गई, और ताश न जमा। तब लता मोड़ा धूप में खींचकर अपनी छोटी बिटिया के लिए स्वेटर बुनने बैठ गई। मिनी, अपना कैमरा गले से लटकाए, इधर-उधर फ़ोटो लेने लगी। मनोहर भी उससे जा मिला और फिर दोनों मिलकर आम पर बैठे हुए मोर को उड़ाकर नीचे उतारने का प्रयास करने लगे। मिनी मोर का फ़ोटो खींचना चाहती थी।

गौतम अपनी फ़ोर-फ़िफ़टी-फ़ोर हंड्रेड, वेस्टली रिचर्ड राइ-

फल साफ़ करने बैठ गया। रगड़-रगड़कर उसने दोनों नलियाँ साफ़ कीं और कोट की जेब में पाँच कारतूस जतन से रखे। इसके बाद उसने अपना हैवरसैक खोला, शिकारी चाकू साफ़ किया, पानी की बोतल में ताज़ा पानी भरा, फ़र्स्ट ऐड का डिब्बा खोलकर दवाइयों और बैंडेजों की जाँच की, और फिर, सब सामान थैले में वापस ठूसकर, वह अपने शिकारी बूट को पॉलिश करने लगा। पॉलिश करते-करते रात की घटना उसे याद हो आई, जब उसके बाहुपाश में खड़ी हुई मिनी महक रही थी। अजीब लड़की है, यह मिनी। सुबह से उसने उसके साथ बात तक न की। रात की घटना से वह अवश्य ही उससे नाराज़ हो गई है, बहुत नाराज़ हो गई है। ताश भी उसने इसी-लिए नहीं खेला। गौतम से अब वह बोलना तो दूर, आँख भी मिलाना नहीं चाहती। सुबह से ही मनोहर के साथ किलोलें करती फिर रही है। और यह डॉक्टर मनोहर भी बड़ा चाइयाँ है। दम भर भी उसे अकेला नहीं छोड़ता। जब देखो साथ साथ चिपका रहता है। रात को डिनर पर भी उसी के बाजू कुरसी लेकर बैठ गया, जीप में भी उसी की बग़ल में बैठा, सुबह ब्रेकफ़ास्ट पर भी उसी तरह बाजू में ही रहा, और निश्चय ही आज दोपहर को मनोहर मचान पर भी मिनी के साथ ही बैठेगा और वह क्यों न बैठे? मिनी पर गौतम का कोई हक़ या अधिकार न था। दोनों कल तक तो बिल्कुल ही अपरिचित थे। शिकार के बहाने श्रीवास्तव अपनी बहन को वास्तव में डॉ॰ मनोहर से मिलाने लाया था। लाल ने तो उससे आज सुबह नहाते हुए यही कहा था। मिनी बम्बई के सर जे॰ जे॰ स्कूल

ऑफ़ आर्ट्स में पढ़ रही है। इस साल उसे डिप्लोमा मिलने वाला है। सुना है, बहुत अच्छे चित्र बनाती है। बनाती ही होगी। उसका रंग, ढंग, बनावट, व्यवहार बिलकुल कलाकारों का-सा है। वह आर्टिस्ट है। उसकी लम्बी-लम्बी, पतली-पतली उँगलियाँ बिलकुल कलाकारों की उँगलियाँ हैं, संगीतकारों और चित्रकारों की उँगलियाँ हैं।

बूट पॉलिश करके गौतम बाहर बरामदे में आया और आराम-कुरसी पर पाँव तानकर लेट गया। एक ओर, बहुत दूर, मिनी अपने कमरे से बारहसिधों के एक दल की, जो उसके पास ही निर्द्वन्द्व विचर रहा था, फ़ोटो ले रही थी; और बाजू में खड़ा हुआ मनोहर अपनी स्निग्ध दृष्टि मिनी पर जमाए हुए था।

रात भर की थकी आँखें गौतम ने मूंद लीं। सोचा, थोड़ी देर पड़ा-पड़ा सुस्ता लेगा। पर वह वैसा कर न सका। आँखें बंद करते ही मिनी उसके सामने, दरवाज़े की चौखट के सहारे बल खाई हुई खड़ी, अपने लहलुहान हाथ जोड़े, उसे नमस्कार करने लगी, और थप-थप करके रक्त की बड़ी-बड़ी लाल-लाल बूंदें फ़र्श पर टपकने लगीं। नारी पर मिथ्या दोषारोपण किया जाता है, पुरुष अपने हृदय की बात भी नहीं जान पाता। मिनी को देखते ही गौतम के हृदय की गति क्षण भर को रुकी थी। उसके बाद दिल की धड़कनों का वेग एकदम ही बहुत बढ़ गया था। यह बात नहीं कि उसने इससे पहले स्त्रियाँ न देखी थीं। बहुतेरी देखी थीं। भारतीय स्त्रियाँ देखी थीं, विदेशी स्त्रियाँ भी देखी थीं। इँजीनिअरिंग के लिए जब वह इंग्लैंड पढ़ने गया

था तो पढ़ाई के अंतरिम और पढ़ाई के बाद लौटती बार उसने यूरोप का काफ़ी भ्रमण किया था और काफ़ी शहर, म्यूज़ियम और नाना प्रकार की नई-पुरानी वस्तुएँ देखी थीं, नाना प्रकार की स्त्रियाँ भी उसने देखी थीं। उनमें से किसी-किसी को देखकर उसका दिल भी मचल उठा था और उसने मन ही मन अपनी आगामी अर्धांगिनी की एक धारणा बना ली थी; यह विशेष रूपवती छाया साकार उसके मन में बस चुकी थी, जो मिनी से बिल्कुल नहीं मिलती थी, जो मिनी से नितान्त ही पृथक् थी। पर उसने अनुभव किया कि उसके मन में रमी हुई वह छाया साकार उसी क्षण नष्ट हो चुकी जिस क्षण उसने मिनी को अपने लहलुहान हाथ से नमस्कार करते देखा, और ऐसे नष्ट हुई जैसे पानी में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को किसी ने कंकड़ फेंककर नष्ट कर दिया हो। उसके बाद से उसके मन में जो साकार मूरत समा गई वह मिनी की थी। और वह मिनी उससे रुष्ट होकर अलग-अलग घूम रही है, मनोहर के साथ अंदर-बाहर किलोलें करती फिर रही है।

“सो गए क्या?” लाल ने पास आकर पूछा।

गौतम ने आँखें खोल दीं।

“आओ बीअर पीएँ, फिर खाना लगेगा।”

“बीअर पीकर शिकार पर जाइएगा तो नींद सताएगी।”

“मुझे कौन शिकार खेलना है। रही नींद की बात, सो तो वैसे भी सताती है। आओ, थोड़ी-सी पी लें, मौसम का तक्राजा भी तो कोई चीज़ है।”

गौतम पीता न था मगर कभी-कभी पार्टियों में पी लेने में उसे विशेष आपत्ति भी न थी। फिर, आज पीने को उसका जी करने लगा। और फिर लाल का अनुरोध भी तो कोई चीज़ था। वह उठा और लाल के साथ हो लिया। श्रीवास्तव के कमरे में श्रीवास्तव और डॉक्टर गुप्ता पहले ही बोतल खोले जमे हुए थे। लाल और गौतम भी उनमें शरीक हो गए। ठंडी-ठंडी बीअर जब गौतम के हलक में उतरी तो सर में गरम-गरम-सा लगने लगा और दिल को राहत हुई। इतने में मिनी और मनोहर लौट आए और लता से हँस-हँसकर जोरों से गप्पें लगाने लगे।

थोड़ी देर बाद कैमरा रखने के लिए मिनी कमरे में आई तो उसकी आँखें गौतम की लाल-सुर्ख आँखों से टकरा गईं।

“हलो!” गौतम ने कहा।

“हलो,” मिनी ने कहा और फिर वह बाहर चली गई। जाकर मनोहर और लता के पास बैठ गई।

खाने पर भी मिनी ने गौतम से कोई बात न की। आज भी, रात की तरह, वह दोनों जीप में आमने-सामने बैठे, पर मिनी ने गौतम की ओर देखा तक नहीं, बगल में बैठे हुए मनोहर से और लता से ही बातें करती रही।

नाले पर पहुँचकर जीप रुक गई और लोग नीचे उतर पड़े। पगडंडी से चलकर एक सघन झाड़ी के पास पहुँचे जहाँ पर करंजी तले मरा हुआ बोदा, जिसका पिछला हिस्सा शेर खा चुका था, पत्तों से ढका पड़ा था। मक्खियाँ बुरी तरह भिनभिना रही थीं। श्रीवास्तव ने लात से कुछ पत्ते हटाए

और उमरावसिंह से कहा कि मचान पर सीढ़ी लगाए। बोदे के तीन ओर—उससे चालीस-पचास फुट के फासले पर—तीन पेड़ों पर, पन्द्रह-बीस फुट की ऊँचाई पर, खटिया बाँधकर तीन मचान बनाए हुए थे।

उमरावसिंह के साथियों ने एक मचान से सीढ़ी लगा दी।

“किसी को कोई तकल्लुफ़ या लिहाज़ करने की ज़रूरत नहीं,” श्रीवास्तव ने कहा, “जिसे शेर दिखाई दे वह बेधड़क बंदूक दाग़ दे। चलो, लाल, तुम चढ़ जाओ इस मचान पर। तुम्हारे साथ डॉक्टर को देता हूँ।”

“पहले तुम और भाभी, हम दूसरे पर बैठ जाएँगे,” लाल ने कहा।

श्रीवास्तव और लता मचान पर जा बैठे। सीढ़ी हटाकर दूसरे मचान पर लगाई जाने लगी।

मिनी अपने कैमरे में फ़िल्म लोड कर रही थी। गौतम ने उसके पास आकर पूछा :

“तुम नहीं लाई बंदूक?”

मिनी ने नकारात्मक सर हिलाकर भावरहित वाणी में कहा :

“मैं फ़ोटो खींचूंगी।”

“तुमने कभी शिकार किया है?”

“दो-एक बार,” कैमरे की ओर देखते हुए ही उसने उत्तर दिया।

“काहे का शिकार?”

“मैं तुमसे बात नहीं करना चाहती।”

“तुम मुझसे नाराज़ हो?”

“हाँ।”

“क्यों?”

“तुम बड़े बदतमीज़ हो।”

तभी लाल ने धीरे से पुकारकर पूछा : “इस मचान पर कौन बैठता है?”

“आप लोग बैठिए। मैं और मिनी तीसरे पर बैठेंगे,” मनोहर ने, जो अपने कारतूस गिनकर जेब में रख रहा था, उत्तर दिया। लाल और डॉक्टर दूसरे मचान पर चढ़ गए।

मनोहर ने देखा गौतम उनके साथ नहीं गया। यानी वह भी तीसरे मचान पर मिनी के साथ ही बैठेगा। वह मन में खीझ उठा। पर चुप रहा।

सीढ़ी तीसरे मचान पर लगाई गई। पहले मिनी चढ़ी, फिर मनोहर; फिर गौतम ने सीढ़ी हटा ली।

मिनी और मनोहर ने ऊपर से साश्चर्य नीचे गौतम की ओर देखा।

“तुम नहीं आ रहे हो?” मिनी ने पूछा।

“मैं नाले पर बैठूँगा,” गौतम ने सीढ़ी उमरावसिंह को थमाते हुए उत्तर दिया। उमरावसिंह ने एक हाथ सीढ़ी लेली और अपने साथियों के साथ एक ओर चला गया।

“वहाँ तो कोई मचान नहीं है,” मिनी बोली।

“मैं मचान पर से शिकार नहीं करता,” गौतम ने कहा

और, अपनी राइफल कंधे पर रख, शेर के पाँव के निशान देखता हुआ, नाले की ओर जाने लगा।

“जाने भौ दो,” मनोहर ने कहा। “रोब जमा रहा है। जैसे बड़ा तीसमार शिकारी है।”

“और कहीं शेर निकल आया तो?” मिनी ने धड़कते हुए दिल से पूछा।

“इतने पेड़ हैं, किसी पर चढ़ जाएगा।”

तब मिनी ने तीक्ष्ण दृष्टि से मनोहर को ताककर मन में सोचा : ‘बड़ा निर्दयी है। न जाने कितने रोगी इसने ऑपरेशन टेबल पर मार दिए होंगे। तभी तो यह बड़ा डॉक्टर बना है। इसके पास एक मनुष्य की जान का कोई मूल्य नहीं।’

दूसरे मचान पर लाल अपने लिए जगह बना रहा था, आराम से बैठकर सोने के लिए। डॉक्टर भी व्यस्त था। पर पहले मचान पर से श्रीवास्तव और लता ने गौतम को नाले की ओर जाते देख लिया। उन्होंने सोचा पेशाब करने जा रहा है। पर जब वह न लौटा और सीढ़ी मचान से हटी हुई पाई तो दोनों बड़े चकराए। चिल्लाने, पुकारने से व्यर्थ में शोर होता। वह चुप रहे। सोचा किसी पेड़ पर चढ़कर बैठ गया होगा।

मिनी ने देखा, वहाँ से कोई डेढ़ सौ फुट पर, एक बड़ा भारी इमली का पेड़ था जिसके नीचे सघन झाड़ी फैली हुई थी। इसी झाड़ी में, पेड़ की छाँह में, पेड़ से टिककर, गौतम राइफल लिए सतर्क खड़ा हुआ था। मिनी का दिल आशंकित हो उठा और जोर-जोर से धड़कने लगा। बाजू में अविचलित

बैठा हुआ मनोहर नीचे पड़े हुए मृत बोदे पर दृष्टि जमाए हुए था

पहले मचान पर लता ने धीरे से पति के कानों में कहा :
“तुमने देखा, मिनी और मनोहर कैसे साथ साथ बने रहते हैं?”

“देखा। सुबह बीअर पीते समय डॉक्टर भी यही कह रहा था।”

“क्या कह रहा था?”

“कि मनोहर और मिनी एक दूसरे पर रीझ रहे हैं।”

“फिर तुमने क्या कहा?”

“मैंने कहा : ‘मैं भी यही देख रहा हूँ।’”

“फिर वह क्या बोला?”

“बोला : ‘जोड़ी अच्छी रहेगी’ चुप रहो अब ; ज्यादा बात मत करो।”

लता चुप हो गई और बिना गर्दन मोड़े, बिना सर हिलाए, केवल आँखें घुमाकर ही सामने एक ओर से दूसरी ओर तक उत्सुक होकर ताकने लगी कि कहीं कोई आता हुआ शेर दिखाई दे जाए।

मचान पर बैठे-बैठे पाँव अकड़ गए। एक घण्टा बीत गया। चार वजने आए। कोई जानवर न निकला। नीचे पड़े हुए बोदे पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। अचानक बन-मुर्गी कहीं बोलने लगी। थोड़ी देर बाद पर फड़फड़ाने की आवाज़ आई। मोर एक पेड़ से दूसरे पर उड़े जा रहे थे। फिर एकदम आश्चर्यजनक सन्नाटा हो गया। मचान पर बैठे

हुए शिकारी अधीर भाव से प्रतीक्षा किए जा रहे थे। चीतल का एक छौना, हाँफता हुआ बाजू से कतराकर निकल गया। तब मनोहर ने मिनी के हाथ को अपने हाथ में लेकर उसके कानों में आहिस्ता से कहा :

“ज़रूर शेर आ रहा है।”

मिनी ने अपना हाथ खींच लिया और नाले की ओर देखा। इमली के नीचे छाँह में गौतम खड़ा था। डाकबँगले के बरामदे में रातवाला प्रसंग उसे याद आने लगा। गौतम ने यकायक उसे बाँहों में कस लिया था और वह उसे चूमने ही वाला था। कितना पास आ गया था उसका मुँह ! उसकी साँसें उसके गाल को स्पर्श करने लगी थीं और उसके होंठ कान के पास मँडरा रहे थे इतनी झूझझुंझ करने पर भी जब वह अपने को न छुड़ा सकी तो लाचार होकर उसने अपना शरीर उसकी बाँहों में निढाल छोड़ दिया था और उसके चुम्बन की प्रतीक्षा करने लगी थी। पर उसने उसे चूमा नहीं। उसे छोड़ दिया। उसे जाने दिया। अँधेरे में नाजायज़ फ़ायदा उठाकर उसे चूम लेना, बीच सड़क पर हेडलाइट द्वारा अंधा करके उन सूअरों पर गोली चलाने के समान था। सच्चे शिकारी की तरह उसे चकमेबाज़ी पसंद न थी। तभी तो उसने रात के उस अँधेरे बरामदे में हाथ आया हुआ शिकार सहज ही में छोड़ दिया। कितना सभ्य है वह ! और उसे अभी-अभी उसने ‘बदतमीज़’ कह दिया। अच्छा नहीं किया। बड़ा कलेजेवाला है—यह गौतम

इसी समय मनोहर ने उसे कुहनी लगाई। मिनी ने

चौककर देखा, भैया और भाभी के मचान के नीचे से बड़ी शान के साथ, पर दबे पाँव, शेर चला आ रहा था। धीरे-धीरे आकर वह बोदे के पास खड़ा हो गया और हिलने-डोलने लगा। मक्खियाँ उसे भी तंग करने लगीं। शेर सशंकित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगा। तभी लाल के मचान के पास से एक और शेर निकल आया। यह शेरनी थी। शेर ने पंजे से ठेल कर बोदे की करवट बदली, फिर पास आती हुई शेरनी को देखकर वह एक बार गुराया, फिर दोनों ने मिलकर बोदे की पीठ पर मुँह मारा। पैंने जबड़े माँस में धँस गए। फिर वह दोनों चपड़-चपड़ खाने लगे। और फिर मिनी के मचान में बहुत जोर का धमाका हुआ और शेर गुराकर गेंद की तरह हवा में उछल पड़ा। शेरनी छलाँगें भरती नाले की ओर भाग निकली। शेर जैसे ही उछलकर धरती पर गिरा तो पहले मचान से राइफल दनदनाई। गोली शेर की टाँग में लगी। तीव्र गति के साथ वह गोल घूम-घूमकर अपने ही चक्कर काटने लगा, पत्थरों को दाँतों में पीसकर चकनाचूर करने लगा, फड़ाफड़ दुम फटकारने और ज़ोरों से गरजने लगा। सारा जंगल दहल गया। इसी समय नाले के किनारे गौतम की राइफल ठाँ से बोल उठी और तभी मनोहर के काँपते हुए हाथों ने अपनी राइफल का ट्रिगर फिर से दबाया। मगर उसके हाथ का कम्पन मिनी ने न देखा क्योंकि वह स्वयं, हाथों में कैमरा थामे, इस तरह काँप रही थी जैसे आँधी में लचकी हुई डाल काँपती है। मनोहर की गोली चूककर शेर से चार इंच दूर जाकर धरती में लगी। मनोहर बोल्ट फिर से चढ़ा ही रहा था

कि शेर मुड़ा और नाले की ओर लपक पड़ा। मनोहर ने उस भागते हुए शेर को उत्तेजना के आवेग में अपनी काँपती हुई राइफल से साधकर ट्रिगर दबाया ही था कि मिनी ने चट उसकी राइफल भटक दी। गोली सनसनाती हुई नीचे एक पेड़ की जड़ में जा घुसी।

“क्या करते हो !” मिनी ने तीव्र स्वर में कहा। “देखते नहीं सामने गौतम खड़ा है ?” कहीं उसे लग जाती तो ?”

मनोहर सहम गया। दोनों की दृष्टि उस घायल शेर पर थी जो गरजता, गुर्राता, छलाँगें भरता नाले की ओर लपका जा रहा था। मिनी ने देखा कि सहसा शेर रुक गया। उसने इमली के तले, झाड़ी में खड़े हुए, गौतम को देख लिया था। मिनी का दिल धड़-धड़ धड़कने लगा। उसे पसीना छूट आया। सर नीचा करके शेर क्षण भर के लिए दुबका। मिनी को लगा वह आखिरी छलाँग के लिए शक्ति का संचय कर रहा है, पर तभी गौतम ने उस पर फायर किया। शेर गिरा और तुरंत ही उठ खड़ा हुआ, बहुत जोर से गरजा और अपने सारे स्नायुओं को अंतिम आक्रमण के लिए तत्पर करके गौतम पर, जो उससे बीस फुट दूरी पर राइफल साधे खड़ा हुआ था, उछल पड़ा। हवा में उछले हुए शेर पर गौतम ने दूसरी गोली दागी और लपककर तने की आड़ में हो लिया और फौरन ही बैरल में गोलियाँ भरने लगा। पर गौतम की गोली ने हवा में उछले हुए शेर की छाती में धँसकर रीढ़ की हड्डी तोड़ दी थी और उसकी उड़ान को बीच ही में रोक दिया था। वह अभी

बंदूक बराबर लोड भी न कर पाया था कि शेर औंधे मुँह धम्म-से धरती पर आ गिरा। वह मर चुका था। पर फिर भी, आत्मरक्षार्थ, गौतम ने अपनी भरी हुई राइफल से, यह जाँचने के हेतु कि शेर वास्तव में दम छोड़ चुका है या नहीं, उस पर एक फ़ायर और किया। शेर हिला तक नहीं। उसके प्राण निकल चुके थे।

मिनी आनन्द और उत्तेजना के आवेग में उठकर खड़ी हो गई और ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ पीटने और चिल्लाने लगी : “शाबाश ! शाबाश, गौतम ! शाबाश !” उसकी उछल-कूद से मचान डगमगाने, डोलने लगा। मनोहर ने उसका हाथ पकड़कर उसे नीचे बिठाया। पास ही पेड़ों पर चढ़कर छिपे बैठे हुए उमरावसिंह तथा उसके साथी नीचे उतर आए और मचान से सीढ़ी लगाने लगे।

“क्या हुआ ?” श्रीवास्तव ने चिल्लाकर पूछा।

“उतरिए, भैया,” मिनी ने कहा। “गौतम ने ढेर कर दिया शेर को।”

“और शेरनी का क्या हुआ, गौतम ?” श्रीवास्तव ने ज़ोरों से आवाज़ लगाई।

“आइए, यहाँ मरी पड़ी है,” गौतम की आवाज़ आई।

नीचे उतरकर जब सब लोग इमली के पेड़ के पास पहुँचे तो गौतम एक पत्थर पर बैठा सिगरेट पी रहा था। उससे दस फ़ुट पर शेर मरा पड़ा था। शेर के आसपास धरती पर बेशुमार लहू के धब्बे थे—लाल-लाल और बैंगनी धब्बे। गौतम उन लहू के धब्बों को घूर रहा था। एक ओर लगभग चालीस

फुट दूरी पर, ऊँची-ऊँची घास में, शेरनी पड़ी हुई थी।

लोगों ने गौतम को बधाई दी। लाल ने मारे खुशी के उसे कंधे पर उठा लिया और नाचने लगा।

“यह है असली शिकारी,” लाल ने कहा। “जमीन पर से शेर मारा है! और वह भी एक नहीं, दो-दो! तुम्हारा कहा सच निकला, भाभी। देखो, आज दो शेर मारे गए। जीओ, गौतम! जीओ, मेरे पट्ठे! कमाल कर दिया आज तुमने!”

“आओ, मैं तुम्हारी फोटो लूँगी,” मिनी ने गौतम से कहा।

गौतम हँसने लगा। उमरावसिंह और उसके साथी शेरनी को उठाकर शेर के पास लें आए और मिनी ने गौतम को जबरदस्ती खींचकर उनके बीच बिठा दिया और तरह-तरह के पोज़ देकर बहुत-सी फोटो लीं।

आध घण्टे बाद उमरावसिंह को दोनों शेर बँधवाकर डाकबँगले पहुँचाने का आदेश दे, श्रीवास्तव अपने साथियों के साथ जीप की ओर चल पड़ा।

मनोहर को छोड़ बाक़ी सब लोग खुश थे। जीप में बड़ा शोर रहा। आज का शिकार सफल रहा। इस बार मिनी ने अपनी सीट बदल दी थी। अब वह गौतम की बग़ल में बैठी हुई थी और शिकार की सारी घटनाओं को बड़े विस्तार-पूर्वक और सिलसिलेवार बयान किए जा रही थी। उसका वाक्चातुर्य देखकर श्रीवास्तव और लता भी दंग रह गए।

“जानते हो, गौतम, आज तुम अपनी जान पर खेल गए?”

लाल ने कहा ।

गौतम ने मिनी की ओर देखकर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कुराया ।

“जी,” उसने कहा, “आज मैं जान पर खेल गया ।”

मिनी ने नज़र भुका ली । थोड़ी देर बाद वह बोली :

“तुम अपनी तसवीर इलस्ट्रेटेड वीकली को भेजना, गौतम । एक शेर के साथ तो कइयों की तसवीरें छप चुकी हैं पर दो शेरों के साथ मैंने कभी नहीं देखी ।”

गौतम मुस्कुराया ।

“मुझे नहीं भेजनी कहीं तसवीर-वसवीर,” वह बोला ।

“तो मैं भेजूंगी,” मिनी ने कहा ।

और वैसा ही हुआ भी । दो हफ्ते बाद मनोहर ने देखा, गौतम की फ़ोटो उन शेर-शेरनी के साथ दी इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया में निकली है । फ़ोटो के नीचे लिखा है : बर्मा-शेल रिफ़ाइनरी के इलेक्ट्रिकल इंजीनियर, श्री गौतम कपूर, जिन्होंने मध्य प्रदेश के मंडला ज़िले में एक ही दिन दो शेरों को ज़मीन पर से मार गिराया ।

उस दिन डॉक्टर मनोहरलाल गुप्ता से खाना न खाया गया ।

उसके एक महीने बाद इलस्ट्रेटेड वीकली में ही एक और फ़ोटो छपी । फ़ोटो के नीचे लिखा था : श्री गौतम कपूर और कुमारी मृणाल श्रीवास्तव, जिनका शुभविवाह पिछले हफ्ते जबलपुर में बड़ी धूमधाम से हुआ । आदि

उस रात और उसके बाद कई रातों को डॉक्टर मनोहरलाल गुप्ता को नींद न आई ।

टेलीफोन पर

डॉक्टर अगरवाल जब कभी बम्बई आते मुझसे मिले बिना न रहते। बनारस में उनका मकान मेरे मकान से बिल्कुल मिला हुआ है। मेरे बड़े भाई के ज़िगरी दोस्त हैं। मैं उनका उसी तरह आदर करता हूँ जैसे अपने बड़े भाई का; और डॉक्टर साहब भी मुझे उसी तरह प्यार करते हैं जैसे मेरे बड़े भाई। मैं उन्हें डॉक्टर भैया कहता हूँ और वह मुझे कृष्णा।

वैसे तो मुझे घर से बराबर चिट्ठियाँ आया करती हैं पर वास्तविक समाचार डॉक्टर भैया के आने पर ही मिला करता है। साल में वह चार, छः बार बम्बई जरूर आ जाते हैं। और उनके लौट जाने पर मन ही मन मैं फिर से उनकी राह देखा करता हूँ।

मुझे कभी-कभी पेट में ज़ोरों का दर्द उठा करता है। अभी अच्छा भला बैठा बात कर रहा हूँ या खेल रहा हूँ और अभी दर्द के मारे तड़पने लगा। ठीक इसी तरह, बिना चिट्ठी या तार दिए, बिना किसी तरह की पहले से सूचना दिए ही, डॉक्टर भैया भी मेरे होस्टल में सहसा आन उपस्थित हो जाते हैं। पूछने पर कहते कि वह आज ही आए हैं, या आए चार दिन हुए, या कल चले जाएँगे। घंटा, आध घंटा बात करते—घर की, बाहर की, दुनिया भर की और फिर चले

जाते। बाद में हमारी बातें, हमारी ग्रुप्पें टेलीफ़ोन पर होतीं। वह वालकेश्वर रोड पर अपने एक मित्र श्री देसाई के घर—‘लक्ष्मी निवास’—में ठहरा करते। उन्हीं का टेलीफ़ोन नम्बर भी मुझे दे रखा था।

डॉक्टर भैया की प्रैक्टिस अच्छी चलती थी। बनारस में उनका कुछ नाम ज़रूर था। वास्तव में उन्हें ही देख-देखकर मेरा मन डॉक्टरी पढ़ने को हुआ था और बम्बई आकर ग्रांट मेडिकल कॉलेज में मैं दाखिल होने का एक तरह से वह ही कारण थे। लेकिन डॉक्टर भैया यह भेद नहीं जानते थे।

डॉक्टर भैया थे बड़े फुरतीले, बड़े मेहनती। सुबह छः बजे उठ जाते; और फिर तमाम दिन मरीजों के बीच इधर से उधर और उधर से इधर। उनके हाथ में यश था। मरीज लोग उन्हें दम भर की फ़ुर्सत नहीं देते। डॉक्टर भैया को इसका मलाल न था। खुश-खुश तमाम दिन वह एक के बाद दूसरे मरीज से निबटते। लोग उनका आदर ही नहीं करते थे बल्कि उन्हें चाहते भी थे। मेरे डाक्टर भैया बनारस के अपने मरीजों के लिए मसीहा थे, उनके देवता थे। और अपने डॉक्टर भैया की तरह मैं भी मसीहा बनना चाहता था। मैं चाहता था एम० बी०, बी० एस० होने पर मैं भी उन्हीं की तरह देवता बनूँ। “कृष्णा, तुम्हारा यह आखिरी साल है न?” पिछली बार मुझसे मुलाकात होने पर उन्होंने कहा था। “बस, पास होकर जल्दी से बनारस लौट आओ। मेरे साथ हो लेना। मेरा बोझा हलका होगा। काम करते-करते कभी कभी थक जाता हूँ....”

डॉक्टर भैया के “थक जाता हूँ” में एक प्रकार का दर्द या नैराश्य की झलक-सी छिपी थी। डॉक्टर भैया के कोई लड़का न था। दो लड़कियाँ थीं। बड़ी आगरे व्याही थी और छोटी गूंगी थी। घर का सारा काम, सारी देख-रेख वही करती। डॉक्टर भैया की स्त्री बहुत साल हुए मर चुकी थी। मुझे उनकी धुंधली-सी याद भर है अब। बड़ी मोटी थीं। मैं उन्हें ‘फ़ुटबॉल भाभी’ कहकर चिढ़ाया करता था और सरौते से मेरे कान कतर डालने को वह मेरे पीछे लद-लद दौड़ा करती थीं।

डॉक्टर भैया बनारस से जब कभी आते मेरे लिए मिठाइयाँ या घी का पीपा या कभी घर के बने बेसन के लड्डू जरूर लाते, और इतने लाते कि मेरे कमरे के साथी ही नहीं बल्कि तमाम हॉस्टेल डॉक्टर भैया को “डॉक्टर भैया” कहने लगा।

कभी-कभी मैं ताज्जुब करता कि डॉक्टर भैया जैसे व्यस्त आदमी को साल में चार, छः बार बम्बई आने के लिए छुट्टी कैसे मिल जाती है। जब आते दो, चार, छः दिन यहाँ ठहरते ही। श्री देसाई उन्हें जल्दी जाने ही न देते। “देसाई मेरा बड़ा पुराना दोस्त है,” डॉक्टर भैया कहा करते। “बड़ा मजेदार आदमी है। कभी-कभी जी करता है कि बनारस लौटकर ही न जाऊँ।”

“आपको आराम भी करना चाहिए, डॉक्टर भैया,” मैं कहता। “तीन-सौ-पैंसठ दिन काम करते करते कौन नहीं थक जाएगा। आप साल में महीने, दो महीने की लम्बी छुट्टी क्यों नहीं निकाला करते?”

“लम्बी छुट्टी !” डॉक्टर भैया हँस पड़े। “अरे, चार, छः दिन के लिए ही बम्बई आता हूँ तो मेरे अस्पताल में हाय-तोबा मचने लगता है। मगर क्या करूँ आखिर अस्पताल के लिए सामान और औज़ार तो मुझे ही चुनकर खरीदने पड़ते हैं। आना ज़रूरी हो जाता है।”

“पर डॉक्टर भैया, आपके अस्पताल में क्या इतने औज़ार लगते हैं ?”

“अरे कुछ न पूछो, कृष्णा !” मेरे अस्पताल में इस क्रूर वद्वन्तजामी है कि बस क्या कहूँ। डॉक्टर दुबे हैं तो हर हफ़्ते एक चाकू गुमा बैठते हैं। डॉक्टर माथुर कभी यह तोड़ बैठते हैं तो कभी वह गिरा देते हैं। जब से सीता देवी चली गई अस्पताल में अंधेर मच गया है !”

मैंने पूछना चाहा कि यह सीता देवी कौन थी, पर मुझे सहसा याद आ गया। तीन, चार साल हुए डॉक्टर भैया के अस्पताल में एक नर्स थी जिसका नाम सीता देवी था; और जो तीन ही महीने की नौकरी के अन्दर अस्पताल में सिस्टर बना दी गई थी। मुझे याद है बहुत खूबसूरत थी वह। उसके रहते घर के लिए दवाई लेने नौकर को न भेजकर मैं खुद ही जाया करता था। जल्दी से डॉक्टरी पास करके डॉक्टर भैया के अस्पताल में शरीक हो जाने के लिए मैं छटपटाने लगा था। उस वक़्त कॉलेज में मेरा पहला या दूसरा ही साल था तीन, चार साल और काटने बाक़ी थे। पर फिर एक दिन डॉक्टर भैया से मुझे मालूम हुआ कि सीता देवी नौकरी छोड़कर चली गई। जब मैंने नौकरी छोड़ जाने का कारण पूछा

तो डॉक्टर भैया हँसकर बोले : “अच्छा हुआ, बला टली। मेरे मरीजों को लम्बी उम्र बख्शती गई। एक नर्स की हैसियत से वह बहुत ज्यादा हसीन थी। उसके रहते मरीजों का क़त्ले-आम होता था। बेचारे शरीर से अच्छे हो जाने पर भी घायल दिल लिए लौटा करते थे।”

डॉक्टर भैया कह रहे थे : “अब तुम जल्दी आकर मेरा अस्पताल सम्हालो तो अंधेर दूर हो और मुझे लम्बी छुट्टी भी मिला करे।” डॉक्टर भैया की नज़रों में अपना यह महत्व देखकर मैं मन ही मन फूला न समाया।

डॉक्टर भैया के साथ एक विचित्र बात यह थी कि मुझसे जब रूबरू बात करते तो उनकी और मेरी उम्र का अन्तर मानो उन पर एक प्रकार का नियंत्रण रखता, मगर जब वह मुझसे टेलीफ़ोन पर बात करते तो ठीक ऐसे कि क्या कोई लँगोटिया करेगा। बनारस से दूर, अपने अस्पताल से, अपने काम और उस वातावरण से दूर, बहुत दूर, बम्बई आकर मेरे डॉक्टर भैया वह डॉक्टर भैया न रहते। वह अब बिल्कुल मुक्त, गैरजिम्मेदार यात्री की तरह होते जिसके सामने किसी प्रकार का भी कार्यक्रम नहीं होता और जो जब जो जी में आए करता है, जहाँ जी में आए जाता है, जो मन में आए बोलता है, जो तबीअत हुई पहनता, खाता और पीता है। इसीलिए मुझे बनारस के डॉक्टर भैया से बम्बईवाले डॉक्टर भैया कहीं ज्यादा पसंद थे। टेलीफ़ोन पर वह मिनटों बातें करते और दिन में दस बार। उनके टेलीफ़ोन करने का कोई निश्चित समय न होता था। बड़े शरारती थे ! चलती

क्लास से मुझे टेलीफोन पर “ज़रूरी काम” के बहाने बुलवाकर आधा आधा घंटा रोके रहते। दुनिया भर की बेमतलब बातें हम लोग टेलीफोन पर किया करते। जब डॉक्टर भैया फ़ोन न करते तो मैं कर बैठता। मगर अब कभी-कभी जब मैं सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि वह कशिश जो मुझसे टेलीफोन करवाया करती थी शायद डॉक्टर भैया न होकर वह सुरिली आवाज़ थी जो कभी-कभी, डॉक्टर भैया की अनुपस्थिति में, टेलीफोन पर बोला करती थी। “जी ? जी हाँ, लक्ष्मी निवास जी नहीं, डॉक्टर साहब घर पर नहीं हैं—आप कौन बोल रहे हैं ? ... ओह ! अच्छा जी—जब वह लौटेंगे मैं उन्हें कह दूँगी कि आपका फ़ोन आया था।”

पहले पहल तो मैंने कुछ खयाल ही नहीं किया लेकिन बाद में, दो साल के अन्दर, जब कोई एक दर्जन बार वही सुरिली आवाज़ श्री देसाई के घर के टेलीफोन पर बराबर बोलती सुनी तो मुझे आश्चर्य हुआ। आवाज़ में एक विचित्र अपनापन तो था ही पर उसमें लोच था, आकर्षण था। मैं सोचता कि डॉक्टर भैया से पूछूँगा, मगर, न जाने क्यों, पूछने को हिम्मत न पड़ी। शायद मैं डरता था कि पूछते हुए मेरे मन के भाव मुँह पर न झलक उठें। वास्तव में मैं उस आवाज़ पर रीझ-सा गया था। ‘लक्ष्मी निवास’ फ़ोन करने का अक्सर मैं ऐसा वक़्त चुनता कि डॉक्टर भैया का घर पर मौजूद होना मुमकिन न हो। एक रोज़ मैंने कोई चार बार फ़ोन किया होगा और चारों बार डॉक्टर भैया “बाहर” ही निकले। “माफ़ कीजिएगा, मैं बार-बार फ़ोन कर रहा

हूँ। आपको बड़ी तकलीफ़ दे रहा हूँ," मैंने कहा।

"कोई बात नहीं, सुबह से गए हैं, अभी तक नहीं लौटे। दोपहर को उनका फ़ोर्ट से फ़ोन आया था कि लंच वह बाहर ही खाएंगे," उसने कहा।

"तब तो," मैं बोला, "शायद वह शाम तक लौटेंगे?"

"मैं भी यही सोचती हूँ। कोई ज़रूरी बात हो तो बता दीजिए मैं उनसे कह दूंगी।"

"ज़रूरी बात! हम लोग कभी कोई ज़रूरी बात किया करते हैं?" मैंने पूछा।

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसकी हँसी उसकी आवाज़ से भी ज्यादा मादक थी।

"बड़े ग़प्पी हैं आप दोनों, घंटों न जाने टेलीफ़ोन पर क्या बातें करते हैं!"

"आप बड़ी साफ़ हिन्दी बोलती हैं! माफ़ कीजिएगा—क्या मैं—मैं पूछ सकता हूँ—आपने यह हिन्दी कहाँ सीखी?"

"यहीं—बम्बई में।"

"बम्बई में!" मैंने आश्चर्य प्रकट किया। "पर—बम्बई में तो ऐसी अच्छी हिन्दी कोई नहीं बोलता।"

वह फिर हँसी। "आप तो बोल रहे हैं," उसने कहा और टेलीफ़ोन रिसीवर रख दिया....

टेलीफ़ोन पर सुनी हुई आवाज़ की मिठास से, लोच से, उसके आकर्षण से, बोलनेवाली का ठीक-ठीक चित्र आँका जाना शायद असंभव है। मैं भी आवाज़ सुनकर उसकी सूरत को कोई निश्चित रूप न दे सका। उसका सारा

व्यक्तित्व मेरे नज़दीक एक सुन्दर और बहुत सुन्दर ध्वनि में सिमटकर आता जिसका ग्रहण मैं कानों द्वारा ही करता। आँखों से उसका मौन आकार देखने की ताब मेरे मन में न थी। फिर भी कानों के आधार पर आँखों के लिए भी मेरी कल्पना ने एक अनुकूल चित्र बना लिया था। यह चित्र कुछ कुछ प्रभाववादी चित्रकारों के बनाए हुए चित्रों की तरह था। इसमें वह अद्वितीय सुन्दरी थी। उसने कोई विशेष कपड़े नहीं पहन रखे थे। पर वह नंगी न थी। वह न ऊँची थी न नीची, न मोटी थी न पतली। वह यौवन के भरखले से भाँकती हुई एक अनुपम सुन्दरता थी। वह अवश्य थी पर उसका शरीर न था। उसकी आँखों में तीर बँधे थे, होंठों पर मुस्कान बिखर रही थी... पर उसका मुखड़ा, उसकी सूरत अदृश्य थी। वह और उसका समस्त अस्तित्व मेरे उस काल्पनिक चित्र में बिखरे पड़े थे। और यही काल्पनिक चित्र मेरी आँखों के आगे भूला करता था।

वास्तविकता की ठोकर से मेरा यह काल्पनिक चित्र सहज ही में टूट सकता था। मैं उसे तोड़ना नहीं चाहता था। 'लक्ष्मी निवास' की उस सुरीली आवाज़ की वास्तविकता जानने के लिए मन-कभी कभी अधीर अवश्य हो उठता। पर मैंने हमेशा अपनी जिज्ञासा को क़ाबू में ही रखा। कभी मैंने 'लक्ष्मी निवास' जाने का दुस्साहस न किया। डॉक्टर भैया जब बम्बई न होते, 'लक्ष्मी निवास' से कभी टेलीफ़ोन न आता। मैं भी कभी न करता। मुमकिन है श्री देसाई को मेरी धृष्टता बुरी लगे। फिर श्रीमती देसाई ने भी कभी मुझे किसी तरह का इस मामले में

प्रोत्साहन न दिया और यह भी तो मुमकिन था कि वह युवती श्रीमती देसाई न भी हो और शायद उनकी मिसरानी ही हो या ऐसी ही कुछ बात हो। पर चूँकि मेडिकल कॉलेज में अब मेरा यह आखिरी साल था मैं सोच रहा था कि वापस बनारस जाने से पहले किसी न किसी बहाने 'लक्ष्मी निवास' जाकर एक बार उस युवती को देख लेने का प्रयत्न जरूर करूँगा। लेकिन इसी बीच एक अकस्मात् घटना के हो जाने से मुझे इतने दिन भी ठहरना न पड़ा।

मेरी परीक्षा को एक हफ़ता बाक़ी रह गया था। रात को साढ़े दस बजे होंगे। मैं हॉस्टेल में अपने कमरे में बैठा पढ़ने में तल्लीन था कि जमादार ने आकर कहा : “बाबू, आपका टेलीफ़ोन आया है।” मैं समझा मेरे सहपाठी प्रभाकर गोरे का फ़ोन होगा क्योंकि शाम को हमारे सिनेमा चलने की बात थी और मैं न जा सका था। दफ़्तर में पहुँचकर मैंने टेलीफ़ोन उठाया।

“देखिए, मैं ‘लक्ष्मी निवास’ से बात कर रहा हूँ। आप कौन मिस्टर दीक्षित हैं?” किसी ने अँगरेज़ी में कहा।

आवाज़ डॉक्टर भैया की न थी।

“जी हाँ, कहिए; और आप कौन देसाई साहब?” मैंने भी अँगरेज़ी में पूछा।

“देसाई! जी नहीं, मैं डॉक्टर गज़दर हूँ।”

“आप कहाँ से बोल रहे हैं?” मैंने फिर पूछा।

“मैं ‘लक्ष्मी निवास’, वालकेश्वर से बोल रहा हूँ।”

मैं चकराया। “फ़रमाइए,” मैंने कहा।

“देखिए, मिसेज़ अगरवाल ने आपको ज़ल्दी बुलाया है।

आप फ़ौरन चले आइए। वह आपसे मिलना चाहती हैं।”

“मिसेज़ अगरवाल ! कौन मिसेज़ अगरवाल ?”

“ओह; आप मिस्टर कृष्ण कुमार दीक्षित ही हैं न ?”

“जी हाँ, मेरा नाम वही है।”

“ताज्जुब की बात है ! आप मिसेज़ अगरवाल को नहीं जानते ? उनके पति बनारस में डॉक्टर हैं।”

“जी हाँ, जी हाँ,” मैंने कहा, “मैं बनारस के डॉक्टर अगरवाल को जानता हूँ पर—”

“हाँ, तो आप जल्दी चले आइए। उनकी स्त्री सख्त बीमार हैं। आपसे मिलना चाहती हैं।”

“जी, मैं अभी पहुँचा; अगर टैक्सी मिलने में देरी हो गई तो बात दीगर है,” मैंने कहा।

“आप इसकी फ़िक्र न कीजिए, मैंने अपनी गाड़ी भेज दी है। पहुँचती ही होगी। देखते रहिएगा। सफ़ेद रंग की पैकार्ड है।”

टेलीफ़ोन रखकर मैं फ़ौरन अपने कमरे में आया और कपड़े बदलता हुआ सोचने लगा कि यह क्या गोलमाल है ! फ़ुटबॉल भाभी को मरे तो दस साल से ज्यादा हो चुके; फिर यह मिसेज़ अगरवाल कहाँ से आ टपकी ? हो न हो, डॉक्टर भैया ने दूसरी शादी अवश्य की है। तो क्या टेलीफ़ोन पर अक्सर जो बात किया करती थी वही डॉक्टर भैया की नई पत्नी है ? क्या देसाई-वेसाई कोई नहीं है ? अब मेरी समझ में कुछ-कुछ आने लगा कि डॉक्टर भैया हर डेढ़, दो महीने में बम्बई क्यों आया करते थे। बाहर खड़ी हुई मोटर हॉर्न बजा रही थी। मैं

कमरे से निकल आया। सफ़ेद पैकार्ड खड़ी थी। मैं उसमें बैठ गया। मुझे रात को इस तरह पैकार्ड में जाते देख खिड़कियों से भाँकते हुए मेरे सहपाठियों के मुँह पर जो भाव पैदा हुए मैं उन्हें समझ रहा था। मेरी जगह अगर कोई और होता और परीक्षा से हफ़्ते भर पहले इस तरह आधी रात को पैकार्ड में बैठकर हॉस्टेल से निकलता तो शायद मेरे भी मुँह पर ऐसे ही भाव होते। मेरे सहपाठी तो मौन रह गए पर मैं जरूर बोल बैठता : “जान पड़ता है बड़ी मछली फाँसी है, बच्चा ने।”

‘लक्ष्मी निवास’ में डॉक्टर गजदर से मुलाकात तो बाद में हुई पर पहले एक बड़े भारी अलसेशियन कुत्ते ने भाँककर मेरा स्वागत किया। कुत्ता अवश्य ही डॉक्टर भैया का था—मेरा मतलब ‘लक्ष्मी निवास’ का ही था। मुझे याद आता है एक बार डॉक्टर भैया के हाथ में मैंने कुत्ते के बिस्किटों का डिब्बा देखा था।

“आइए, मिस्टर दीक्षित। मैं डॉक्टर गजदर,” एक दुबले, पतले, बूढ़े पारसी व्यक्ति ने मुझसे हाथ मिलाया। हाथ ठंडा था। छोटी-छोटी आँखें मुझे इस तरह ताक रही थीं मानो वह यह पता लगाना चाहती हैं कि आखिर मेरा मिसेज अगरवाल से क्या रिश्ता हो सकता है।

“आप मेडिकल स्टूडेंट हैं?” उसने पूछा।

“जी,” मैंने कहा।

“कौन से साल में हैं आप?”

“यह मेरा आखिरी साल है।”

“ओह। कहाँ के रहनेवाले हैं आप?”

“बनारस ।”

मैं अधीर हो रहा था। बूढ़े ने फिर अँगरेज़ी में ही दूसरा सवाल किया ।

“आप मिसेज़ अगरवाल को क्या नहीं जानते ?”

“मैं उनके पति को जानता हूँ । वह मेरे पड़ोसी हैं बनारस में । मगर मिसेज़ अगरवाल से मेरी—”

“मुलाकात नहीं ?”

“जी नहीं ।”

डॉक्टर गज़दर को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ । वह अपने मन का भाव छिपाने के लिए अपनी सिगरेट सुलगाने लगा ।

“बैठिए,” वह बोला ।

“क्या मैं अन्दर जा सकता हूँ ? आपने कहा था—मिसेज़ अगरवाल मुझसे मिलना चाहती हैं ।”

डॉक्टर गज़दर ने मेरी ओर देखा, फिर अपने नक़ली दाँतों के बीच से सिगरेट हटाता हुआ बोला : “मिसेज़ अगरवाल मर गईं ।”

“मर गईं ! पर अभी-अभी जब आपने मुझे फ़ोन—”

“तब ज़िन्दा थीं ।”

“क्या मैं उन्हें देख सकता हूँ ?”

“आइए,” कहकर डॉक्टर गज़दर ने अपनी सिगरेट फेंकी और अपने साथ वह मुझे अन्दरवाले कमरे में ले गया । कमरा मिसेज़ अगरवाल का शयनागार था । ढंग से सजा था । पलंग पर पड़े हुए शव पर सफ़ेद चादर ढकी थी । डॉक्टर गज़दर ने

शव के पासवाले मेज़कंदील का बटन दबाया। कंदील जगमगा उठा। मैंने पास जाकर चादर हटाई। चादर के भीतर से बन्द हवा का एक हलका-सा भोंका उठा और डॉक्टर भैया की मृत पत्नी का चेहरा नज़रों के सामने आया। मैं कुछ चमका। चेहरा परिचित जान पड़ा। नहीं, मेरे काल्पनिक चित्र से उसका कोई सम्बन्ध न था। क्षण भर को मैं अवाक् खड़ा रहा, फिर वह चेहरा मुझे याद आ गया। चेहरा सीता देवी का था।

डॉक्टर गज़दर मुझे घूर रहा था। मैंने चादर फिर से ढक दी।

“आप मिसेज़ अगरवाल को जानते थे?” डॉक्टर गज़दर ने पूछा।

“जी हाँ,” मैंने उत्तर दिया।

डॉक्टर गज़दर मुस्कुराया।

कोने में एक नर्स बैठी हुई झूला हिला रही थी। सीता देवी की मृत्यु का कारण अब मेरी समझ में आया। मैंने डॉक्टर की ओर देखा ही था कि वह बोल पड़ा: “जी हाँ, बच्चा ज़िन्दा है। लड़का है। देखिएगा?” वह मुझे बच्चे के पास ले गया। नन्हा-सा बच्चा झूले में सोया पड़ा था।

“डॉक्टर अगरवाल के पास बनारस तार भेज दिया गया है पर जब तक वह नहीं आ जाते, मिसेज़ अगरवाल चाहती थीं, आप उसके संरक्षण का भार अपने ऊपर लें,” डॉक्टर ने कहा।

“मैं तैयार हूँ।”

“आपको कुछ करना न होगा। आप सिर्फ़ निगरानी रखें। बच्चे की देखभाल के लिए मेरी नर्स यहाँ रहेगी। डॉक्टर

अगरवाल के आने तक शव न हटाया जाए। कल वह आ ही जाएँगे। अच्छा, अब मैं चलूँ।”

मैं डाक्टर गजदर को मोटर तक पहुँचाने बाहर गया।

“क्या डॉक्टर अगरवाल बनारस में ही रहते हैं?” डॉक्टर गजदर ने पूछा।

“जी हाँ।”

“फिर उनकी पत्नी यहाँ कैसे?”

“डॉक्टर अगरवाल अक्सर यहाँ आया करते हैं,” मैंने कहा।

मगर बूढ़े डॉक्टर गजदर के मन का समाधान न हुआ। “ओह;” उसने कहा और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगा। सिगरेट सुलगाते-सुलगाते उसने फिर एक नज़र मेरे चेहरे पर डाली और फिर वह झट से गाड़ी में जा बैठा। “अच्छा, मिस्टर दीक्षित,” मुझसे हाथ मिलाते हुए उसने कहा, “अब आप परेशान न होइए। जो होना था सो हो गया। आपका इम्तिहान नज़दीक है, सोने की कोशिश कीजिएगा। गुडनाइट।”

“गुडनाइट।”

बूढ़े डॉ० गजदर की पैकार्ड चली गई। मैं घर की ओर मुड़ा। अलसेशियन अबकी बार मुझ पर गुराया तक नहीं। मैं बैठक में रखी हुई आराम कुरसी पर बैठ गया। बच्चा शायद जाग गया था। अन्दर से उसके रोने की आवाज़ आ रही थी। मुझे डॉक्टर भैया पर बड़ा गुस्सा आ रहा था। इसलिए नहीं कि उन्होंने दुबारा शादी क्यों की। की सो अच्छा ही किया। इसलिए भी नहीं कि शादी सीता देवी से क्यों कर डाली। सीता देवी से भला कौन

शादी न करता ? इसलिए भी नहीं कि अपनी पत्नी को बनारस से दूर बम्बई में क्यों रखा । बेचारे और कहाँ रख सकते थे ? लोग हंगामा जो मचाते कि नर्स से शादी कर डाली । सच है, देवता को मानव की स्वतंत्रता कहाँ ? बल्कि गुस्सा इसलिए आ रहा था कि उन्होंने यह बात मुझसे भी क्यों छिपा रखी ।

बाबू

भूले पर बैठी कमलाबेन पान लगा रही थी।

“आज का खाना बड़ा अच्छा बना, कमला,” सफ़ेद हरक के लम्बे कोट की आस्तीन में हाथ डालते हुए माणिकलाल ने कहा। “इतना खा गया हूँ कि मुझसे चला भी नहीं जाता।”

“तो थोड़ी देर आराम कर लो न। रोज़ तो खाने के बाद आधे घंटे के लिए लेट जाते हो, और आज जब मैं कह रही हूँ कि आज के दिन पीढ़ी पर न जाओ तो खाते ही जाने के लिए उठ खड़े हुए। लो पान लो।”

सैठ माणिकलाल देसाई ने स्त्री के हाथों से दोनों पान लेकर मुँह में ठूस लिए और सर पर काफ़ी दोपल्ली टोपी रखते हुए बोले : “नहीं यह बात नहीं, कमला। आज मैं पीढ़ी कभी न जाता, पर क्या करूँ, बहुत ज़रूरी काम है। रुई का भाव मिनट-मिनट घट रहा है। मुझे जाकर कलकत्ता और इंदौर से टेलीफ़ोन पर बात करनी है, बाज़ार का पता लगाना है। मौक़ा लगते ही पचहत्तर हजार गाँठें निकाल देना चाहता हूँ, नहीं तो बड़ा घाटा हो जाएगा।”

“नफ़ा-घाटा तो तुम्हारा रोज़ का हूँ लगा रहता है। आज घाटा होगा, कल पूरा कर लोगे, पर बाबू का जन्म-दिन तो साल में

एक ही बार आता है। इतने सारे लोगों को बुलाया है शाम को चाय के लिए और तुम—”

“बस अभी गया और अभी आया। दो घंटे के अंदर लौट आऊंगा। तुम फ़िक्र न करो। कुछ मँगाना हो तो बोलो। बोल, बेटा, बाबू, क्या चाहिए तुझे?”

पिता की आवाज़ सुनकर चार साल का बच्चा, बाबू (वैसे नाम तो उसका वृजलाल था पर घर में माँ-बाप उसे ‘बाबू’ ही कहा करते थे) मोटर के खिलौने से खेलता हुआ वहाँ आ पहुँचा।

“बाबा, यह मोतल नई चलती,” उसने आते ही पिता से शिकायत की।

“क्यों, बेटा, क्या हो गया इसे?”

“मालूम नई। इछकी चाबी खतम हो जाती है।”

“कोई बात नहीं। हम तुम्हें नई मोटर ला देंगे। आज तुम्हारे जन्म-दिन पर हम तुम्हें बहुत सारी चीज़ें देंगे। बोलो तुम्हें क्या क्या चाहिए?”

बाबू ने एक नज़र माँ की ओर देखा। माँ मुस्कुरा रही थी।

“बता दे अपने बाबा को जो चाहिए तुम्हें,” कमला ने बाबू के सर पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा।

बाबू सोच में पड़ गया। बहुत सोचकर बोला : “मोतल चइये।”

“मोटर तो तुम्हारे पास है, बाबू,” माणिकलाल ने कहा।

“नई; खेलनेवाली मोतल नई, ऐछीवाली मोतल नई, बैठनेवाली मोतल, बली वाली, पाँव छे चलानेवाली।”

“ओह, तो तुम्हें चलानेवाली मोटर चाहिए। अच्छी

बात है, हम पीढ़ी से लौटते हुए साथ लेते आएँगे। और बताओ और क्या चाहिए।”

बाबू ने फिर सोच सोचकर बताना शुरू किया : “लकली का घोला चइये—खुतबाल चइये—छीती चइये—औल—औल—लेलगाली चइये—औल पेपी चइये—औल—”

“अच्छा, अच्छा, हम लेते आएँगे। घोड़ा, फ़ुटबॉल, सीटी, रेलगाड़ी, पेपरमेंट—सब लेते आएँगे, हूँ? आज शाम को हमारा बेटा अच्छे अच्छे कपड़े पहनकर रेलगाड़ी चलाएगा। है न?”

बाबू खुश होकर पिता से लिपट गया। माणिकलाल ने उसे प्यार किया और फिर चले गए। बच्चे का हाथ थामे कमला दरवाज़े पर खड़ी पति को देखती रही। सीढ़ियाँ उतरते हुए माणिकलाल नीचे चले जा रहे थे। चौथी मंज़िल से सीढ़ियाँ उतरते हुए जब वह नीचे फ़र्श पर पहुँचे तो उनकी आकृति ऊपर से देखते हुए बाबू को बड़ी विचित्र दिखाई दी।

“बाबा कित्ते छोते हो गए, माँ!” उसने साश्चर्य कहा।

कमला ने हँसकर बाबू को गोद में उठा लिया और दरवाज़ा भेड़कर अंदर आ गई। फिर सामने की बालकनी में जाकर खड़ी हो गई। नीचे देखा, माणिकलाल की डाँज गाड़ी खड़ी थी। ऊपर से मोटर इतनी छोटी लगी जैसे कोई खिलौना हो। बाबू वाली ‘मोतल’ से भी छोटी दीख पड़ी वह डाँज गाड़ी जिसमें ढाई इंच के सेठ माणिकलाल जा बैठे। उनके बैठते ही मोटर चल दी।

“अच्छा, बाबू, अब तू खेल थोड़ी देर; मैं तब तक खाना

खा लूँ।” कमला ने उसे गोद से उतार दिया और रामा को बुलाकर कहा: “महाराज से कहना मेरी थाली लगाए।”

खाना खाकर जब कमला कमरे में आई तो बाबू भूले पर चढ़ा जोरों से भूल रहा था।

“गिर पड़ेगा, बाबू! उतर भूले से। आ, तुझे सुला दूँ,” कमला ने कहा।

“नई, हमको नींद नई आती,” बच्चा बोला और फिर पेंगें मारने लगा।

कमला आकर भूले पर बैठ गई और पान लगाने लगी। भूला भारी हो गया। बाबू उतरकर फिर अपनी मोटर से खेलने लगा। पान खाकर कमला सोफे पर से एक तकिया उठा लाई और उसे सिरहाने रखकर भूले पर लेट गई। सामने वाली बालकनी के ठीक आगे होने के कारण भूले पर हवा बहुत अच्छी आती थी। कमला की सारी दोपहर लगभग बस इसी भूले पर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े बीता करती थी। घर का सारा काम वह यहीं, भूले पर, बैठे-बैठे चलाती थी। रसोई बनाने के लिए एक महाराज और ऊपरी काम के लिए रामा था। बर्तन मलने-वाली बाई भी थी। तीन नौकर काफ़ी थे एक गुजराती परिवार के लिए। आखिर उसका छोटा-सा संसार था—वह, उसका पति और यह छोटा-सा बच्चा। बस तीन जीव थे उस घर में। भूले पर पड़े-पड़े वह सोचने लगी, घर की बातें सोचने लगी, अपनी बातें, अपनी निजी बातें.... बड़ी सुखी थी अब वह। शादी के बाद बीस बरस तक जब उसे बाल-बच्चा न हुआ तो वह बेचैन हो उठी थी। माणिकलाल की बेचैनी भी उससे छिपी न रह सकी

थी। इतना धन, इतनी जायदाद—सब अकारथ जानेवाले थे। माणिकलाल का मन उन दिनों काम से उचाट हो गया था और घर खाने को दौड़ा आता था। बिना संतान के माणिकलाल और कमला धधकती आग में ज़िंदा जले जा रहे थे जब भगवान ने अचानक उन पर दया की और कमला की कोख से बाबू ने जन्म लिया। माणिकलाल और कमला के जीवन में बसंत आ गया। उनके घर में बहार आ गई। पैंतालीस साल की उम्र में सेठ माणिकलाल आखिर बाप बन ही गए और अड़तीस साल की कमलाबेन माँ बन गई।

गोद भर गई। घर आबाद हो गया। जीवन सार्थक हो गया। भगवान् की लीला विचित्र है! सोचते-सोचते कमला को भपकियाँ आने लगीं पर बाबू की मोटर की खटर-पटर में कोई कैसे सो सकता है?

“अरे, बाबू, शोर मत मचा। आकर सो जा मेरे पास। आ,” कमला ने आँखें खोलकर कहा।

“हमको नींद नई आती,” बाबू ने उत्तर दिया और मोटर में चाबी भरने लगा। मोटर की खटर-पटर फिर से शुरू हो गई।

“तू सुनता नहीं? बंद कर मोटर। सोने भी देगा या नहीं?” कमला ने चिल्लाकर कहा।

बाबू ने देखा माँ बिगड़ गई है। चुपचाप मोटर लेकर बाहर बालकनी में चला गया और खेलने लगा। अकेले-अकेले बात करने की उसकी आदत थी। खुद से बात करता जाता और मोटर इधर से उधर और उधर से इधर दौड़ाता जाता। और भूले पर पड़े-पड़े कमला की आँखें भपकने लगीं।

न जाने कमला कितनी देर सोई। संभव है आध घंटा सोई हो, संभव है आध मिनट ही। अचानक जब उसकी आँख खुली तो कमरे में बड़ी खामोशी थी। संभव है मोटर की खटर-पटर अचानक बन्द हो जाने से उसकी नींद को भटका लगा हो और उसकी आँख खुल गई हो। अब यह लड़का और क्या शरारत करने बैठ गया ! कमला ने करवट बदलकर बालकनी की ओर मुँह किया। बालकनी खाली थी।

“अरे क्या कर रहा है तू ? कहाँ है ? बाबू बाबू ”

कोई उत्तर न था। बिल्कुल सन्नाटा था। कमला का दिल धड़कने लगा। वह उठ बैठी। उसे अचानक याद आया बालकनी का जँगला एक जगह पर कुछ टूटा-सा था और उसका बाबू उसी बालकनी में मोटर के साथ खेल रहा था।

“रामा ! रामा ! महाराज !” कमला चीख उठी।

रामा और महाराज घबराए हुए अंदर आए। “क्या हुआ, बाई ? क्या हुआ ?” उन्होंने पूछा।

“बाबू कहाँ है ?”

“अन्दर तो नहीं है, बाबू,” महाराज ने कहा।

“बाबू तो आप ही के पास था,” रामा बोला।

“अभी-अभी तो यहाँ बालकनी में खेल रहा था !”

रामा घर के सारे कमरे ढूँढ़ आया। “नहीं, बाबू नहीं है अंदर,” वह बोला। बालकनी का जँगला टूटा था, बाई ! कहीं बाबू नीचे तो नहीं गिर पड़ा ?”

कमला मूर्छित होकर धड़ाम से भूले पर गिर पड़ी। चित

पड़ गई। महाराज दौड़कर पानी लाया और मालकिन के मुँह पर छींटे देने लगा।

“अरे, खड़ा-खड़ा देख क्या रहा है? जा, सेठ को टेलीफ़ोन कर,” महाराज ने कहा।

रामा के होश उड़े हुए थे। लपककर वह टेलीफ़ोन पर गया और उसने मालिक की पीढ़ी का नम्बर मिलाया।

“बाबू ऊपर से गिर पड़ा,” फ़ोन में उसने मालिक से कहा। “बाबू—बाबू—सेठ; अपना बाबू—बालकनी में खेल रहा था। जँगला टूटा था। खेलते-खेलते नीचे सड़क पर गिर पड़ा। बाई बेहोश हो गई है—जल्दी आइए, सेठ—” रामा टेलीफ़ोन रख, अपना सर थामकर बैठ गया। बाबू को उसने गोद खिलाया था और आज उसका वह छोटा मालिक, उसके मालिकों की आँखों का तारा, चौथी मंज़िल से गिरकर मर गया! रामा की आँखों से आँसू की धाराएँ फूट निकलीं।

खबर सुनकर सेठ माणिकलाल देसाई का दिल सदा के लिए बन्द हो सकता था। उसी घड़ी और वहीं पर वह मर सकते थे। पर वह मरे नहीं। अपने को किसी प्रकार सँभाल लिया उन्होंने, और बिना कोट, टोपी और जूतों के ही वह बाहर को लपके। पीढ़ीवाले लोग चकित हो देखने लगे। सड़क की भीड़ को चीरते हुए माणिकलाल अपनी मोटर में आ बैठे और ड्राइवर से घर चलने को कहा। उनकी दशा देखकर ड्राइवर भी चकित था।

“क्या हुआ, सेठ? क्या बात है?” उसने पूछा।

“बाबू—बाबू—ऊपर बालकनी से गिर पड़ा!” माणिक-

लाल ने रोते हुए कहा। “चलो, घर चलो, एकदम जल्दी चलो—”

सड़क पर लगी भीड़ को चीरती हुई, तीर की तरह, डॉज गाड़ी छूट पड़ी।

बम्बई की भीड़ में सड़क पर गाड़ी चलाना आसान नहीं। माणिकलाल देसाई की गाड़ी की तेज़ रफ़्तार और सतत हॉर्न की ध्वनि के सामने सड़क चलते लोग घबराकर स्वयं हट जाते और सर्र से गाड़ी उनके बीच से निकल जाती। दलाल स्ट्रीट से ठाकुरद्वार पहुँचने में इतना कम समय शायद ही आज तक किसी मोटर ने लिया हो, मगर माणिकलाल को लगा जैसे एक युग बीत गया हो।

ठाकुरद्वार पहुँचते ही ‘माणिक निवास’ की ऊँची इमारत दिखाई देने लगी। घर के सामने सड़क पर लोगों की भीड़ लगी हुई थी। डॉज गाड़ी भीड़ के पास जाकर रुक गई और माणिकलाल बदहवास-से गाड़ी में से बाहर निकले। उनके बाल उड़ रहे थे, आँखें लाल थीं, और बुरे हाल थे। उनके घर में आज सदा के लिए अँधेरा हो गया था। उनका भविष्य नष्ट हो चुका था।

भीड़ को हटाकर, पागल की तरह, माणिकलाल भीड़ के अंदर पहुँचे।

यहीं पर ‘माणिक निवास’ का प्रवेश द्वार था जहाँ से सीढ़ियाँ ऊपर को जाती थीं। द्वार के दोनों ओर कपड़ों, खिलौनों और मिठाइयों की दूकानें थीं। सारे दूकानदार और बहुत-से दूसरे लोग द्वार पर इकट्ठा हुए हँस रहे थे। सेठ माणिकलाल को देख कुछ जर्न चुप हो गए और कुछ हँसते ही रहे। माणिकलाल को उनकी इस बेदिली से बड़ी चोट लगी।

“क्यों हँस रहे हो, भाई। मैं तबाह हो गया और तुम खुश हो रहे हो ! क्या बिगाड़ा है मैंने तुम्हारा ? मेरा एक ही एक लड़का—”

“यह रहा, सेठ” कहता हुआ, बाबू को कंधे पर बिठाए कपड़ेवाली दूकान का मालिक आगे बढ़ा। बाबू लॉलीपॉप चूस रहा था। माणिकलाल को देखते ही चिल्ला उठा : “बाबा ! बाबा !”

बच्चे को ज़िन्दा और सुरक्षित देखते ही माणिकलाल ने लपककर उसे छीन लिया और उसे अपनी छाती से लगा लिया।

“बाबू ! बेटा !” उन्होंने कहा।

“बाबा !” बाबू ने दोनों हाथ पिता के गले में डाल दिए। माणिकलाल के घुटने ढीले पड़ गए और वह बाबू को लिए ही, ज़मीन पर उकड़ूँ बैठ गए। “यह सब क्या देख रहा हूँ ! किसने बचाया मेरे बेटे को ?” उन्होंने कपड़ेवाले दूकानदार से पूछा।

“भगवान ने बचाया, सेठ। भगवान ने बचाया आपके बेटे को,” दूकानदार बोला।

“कैसे ?” माणिकलाल ने पूछा।

“मेरी दूकान के आगे यह पाल तनी हुई देख रहे हो न, सेठ ? बस तुम्हारा बच्चा इसी में आकर गिरा। मैं यहीं खड़ा था। मैं सोचूँ ऊपर से किसी ने कुछ फेंका है। स्टूल पर खड़ा होकर ऊपर झाँका तो देखता हूँ यह बच्चा !”

सब लोग हँसने लगे।

“मारनहार से तारनहार अधिक बलवान होता है, सेठ,”

भीड़ में खड़ा हुआ एक दूधवाला भैया बोला। “इसे पाल न समझो, झोली समझो। भगवान का गुन गाओ, सेठ ! उसी ने तुम्हारा बच्चा तुम्हारी झोली में डाल दिया।”

माणिकलाल ने आकाश की ओर देखकर कहा : “तू धन्य है, भगवान ! तू धन्य है !”

आकाश पर से घूमकर माणिकलाल की दृष्टि ऊपर अपनी बालकनी पर पड़ी जहाँ से बाबू गिरा था। माणिकलाल ने देखा रामा और महाराज, कमला को थामे हुए, बालकनी में खड़े-खड़े मुस्कुरा रहे हैं और कमला, बाबू को देख-देख, बलाएँ ले रही है।

मोती-से दाँत

रुइया कॉलेज में वसंतराव प्रोफ़ेसर था। मराठी पढ़ाया करता था। अच्छा पढ़ाता था। स्वभाव का अच्छा था और वैसा ही देखने में भी था। विद्यार्थियों के मन में उसके लिए आदर-भाव था। अन्य प्रोफ़ेसर भी उसे अच्छा मानते थे। कॉलेज के प्रोफ़ेसरों में वह सबसे कम उम्र का था।

प्रोफ़ेसर बनने से पहले वसंतराव इसी रुइया कॉलेज में विद्यार्थी था। अच्छे विद्यार्थियों में था। गिरगाँव में अपने बड़े भाइयों—रामराव गाढवे और बाबूराव गाढवे—के साथ रहा करता था और रोज़ ट्रैम में बैठकर गिरगाँव से माटुंगा पढ़ने के लिए रुइया कॉलेज आया करता था। वसंतराव जाति का सुनार था। भाई अब भी सुनार का धंधा करते हैं। गिरगाँव में अब भी उनकी दूकान है—छोटी-सी, जैसी गलियों में हुआ करती है, सँकरी अँधेरी गलियों में। रामराव और बाबूराव अपने छोटे भाई, वसंतराव, को बहुत चाहते थे और इसीलिए खुद को तंगी में रखकर, आधा पेट खाकर, मोटा पहनकर, उन्होंने वसंतराव को उसके मन-मुताबिक पढ़ाया-लिखाया और बड़ा किया।

बम्बई युनिवर्सिटी में वसंतराव गाढवे एम० ए० में अव्वल आया और उसके बाद तुरन्त ही उसे, उसी रुइया कॉलेज में, अध्यापक की नौकरी मिल गई।

अध्यापक होते ही फ़ौरन वसंतराव गाढवे ने दो महत्वपूर्ण काम किए। पहला—उसने अपना उपनाम ‘गाढवे’ से ‘राव’ में बदल लिया। गाढवे मराठी में गधे को कहते हैं। सो, वसंतराव गाढवे अब वसंतराव बन गया। कॉलेज में उसे सब जन राव कहने लगे। दूसरा काम—बचपन में बंदी हुई मँगनी उसने तोड़ दी। यह दूसरी करतूत भाइयों को और भाभियों को बहुत खल गई। लड़कीवालों को इतने दिनों तक आस दिलाए रखकर अब अकस्मात्, बिना कारण, सगाई तोड़ने से बिरादरी में थू-थू होने लगी। वसंतराव तो अलग ही रहा, निंदा भाइयों की होने लगी। भाइयों में वसंतराव की इसी बात पर काफ़ी कहा-सुनी हो गई। पर वसंतराव एक अनपढ़, जाहिल और गँवार लड़की को अपनी अर्धांगिनी बनाने के लिए कदापि तैयार न था। भाइयों से सम्बन्ध विच्छेद करना उसे मान्य था लेकिन ‘अंधे और जंग खाए हुए समाज की भेड़-चाल पर अपना जीवन बलिदान कर देना’ उसे कदापि मान्य न था। सो, भाइयों से सम्बन्ध विच्छेद करके प्रोफ़ेसर वसंतराव माटुंगा चला गया और कॉलेज के पास ही दो कमरोंवाला एक छोटा-सा फ़्लैट लेकर उसमें अकेला रहने लगा। गिरगाँव की तंग गली में स्थित उन अँधेरी खोलियों के बाद माटुंगा के इस फ़्लैट के हवादार कमरे वसंतराव को बहुत भाये। तबीअत खुश हो गई। पुरातन तमाम बन्धनों को तोड़कर वह मुक्त हो गया था, स्वतंत्र हो गया था.... उसका मन करने लगा कि वह आकाश में छलाँगें लगाए, उसका मन करने लगा—न जाने क्या-क्या करने लगा।

पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। वह प्रति दिन सवेरे कॉलेज जाता और शाम को कॉलेज से लौट आता। शाम को पार्क की ओर टहलने जाता और रात को होटल में खाना खाकर अपने फ्लैट वापस लौट आता। थोड़ा-सा पढ़ता, बालकनी में खड़ा होकर नीचे सड़क पर चलती हुई भीड़ को देखता, भागती हुई मोटरों को देखता और फिर खड़े-खड़े थककर कमरे में वापस आ जाता और फिर सो जाता।

इसी तरह चार साल बीत गए और वसंतराव की तीसवीं वर्षगांठ आन पहुँची। फ्लैट में कुछ विद्यार्थियों और कुछ अध्यापकों को निमंत्रित कर वसंतराव ने पार्टी दी और अपनी तीसवीं वर्षगांठ मनाई। थोड़ी देर उन कमरों में खासी चहल-पहल रही, धूम-धड़ाका और शोरोगुल रहा; और फिर वही खामोशी छा गई। वसंतराव अपने मन में एक अजीब-सी बेचैनी अनुभव करने लगा। फ्लैट के उन हवादार कमरों में उसका दम घुटा जाने लगा—और तब सहसा एक दिन ब्याह का खयाल उसके मन में आया। वह एक दुलहन लाने की सोचने लगा। पर माटुंगा के बाज़ार में दुलहन नहीं बिका करती, बम्बई के किसी बाज़ार में नहीं बिका करती, वास्तव में दुलहन बाज़ार में नहीं बिका करती। दुलहनें घरों में होती हैं—लोगों के घरों में, समाज में होती हैं। समाज से वसंतराव का कोई सम्बन्ध नहीं था। अपने समाज से भी नहीं। और फिर उसके अपने समाज की दुलहन उसे नहीं चाहिए थी, उसे गँवार सुनारन नहीं चाहिए थी। उसे अपने लिए—श्री वसंतराव के लिए—श्रीमती वसंतराव

चाहिए थी। श्रीमती वसंतराव अन्य समाजों से, ऊँचे समाजों से ही प्राप्त हो सकती थी। और उन सब समाजों से वसंतराव सर्वथा अपरिचित था.... वसंतराव बौखला गया। दिल की बात एक दिन उसने अपने मित्र प्रोफ़ेसर सेठ से कही।

सेठ खूब हँसा। “कैसी लड़की चाहिए तुम्हें?” उसने पूछा।

“जो पढ़ी-लिखी हो और देखने में अच्छी हो,” वसंतराव बोला।

“बहुत हैं ऐसी लड़कियाँ—बहुत मिलेंगी। मगर तुम चाहो कि ऐसी लड़की घर बैठे मिल जाय, तो मेरे बुद्धू दोस्त, तुम्हारी भूल है। घर से बाहर निकलो, लोगों से मिलो-जुलो, उनके घर जाओ, उन्हें बुलाओ। रेस कोर्स जाओ, वहाँ बहुतरे लोगों से मुलाकात होती है। क्लब जाओ, सी० सी० आई० जाओ, लोगों से मेल-जोल बढ़ाओ.... लड़कियाँ ही लड़कियाँ मिलेंगी। तीन सौ रुपये माहवार पानेवाले एक प्रोफ़ेसर के लिए क्या बम्बई में लड़कियों की कमी है?”

वसंतराव को सेठ की बात जँच गई और वह बड़ा संकल्प करके अपने कॉलेज और प्लैट के दायरे से बाहर निकला। सिगरेट पीना शुरू किया। ताश खेलना भी शुरू किया। सुना था सिगरेट और ताश के बहाने सोसायटी में शिरकत आसानी से हो जाती है। मेल-मिलाप बढ़ता है। बात सच थी। तीन-चार महीने के अन्दर ही अन्दर वसंतराव की काफ़ी लोगों से जान-पहचान हो गई, कई परिवारों से उसका

परिचय हो गया और उसे लगने लगा कि लगभग एक दर्जन युवतियाँ जो उसकी नज़र में थीं, उन्हीं में अवश्य कोई श्रीमती वसंतराव है। उसने इरादा किया कि अब अधिक समय न गँवाएगा। कॉलेज में न जाने कैसे खबर उड़ चुकी है कि प्रोफ़ेसर राव लड़की ढूँढने में परेशान हैं पर उन्हें लड़की नहीं मिल रही। उन्हें देखते ही कॉलेज के लड़के अजीब-अजीब हरकतें करते। कोई हँसी रोक लेता, कोई मुँह बनाकर खिसक जाता, कोई—और लड़कियाँ भी कम शरीर न थीं। सबकी सब मिलकर मिस लोटावाला को (जो कॉलेज में सबसे भद्दी और मोटी पहलवान थी) चिकोटियाँ काटा करतीं, छेड़ा करतीं और आपस में क्या कुछ फुसफुसाया करतीं और—

‘नहीं, अब और समय बँरबाद करना फ़िज़ूल है,’ वसंत राव ने सोचा। ‘अगले इतवार को जोशी के साथ शिवाजी पार्क क्लब तो जा ही रहा हूँ। वहाँ पर बापट वकील के साथ उसकी स्त्री और बहन हमेशा की तरह इस इतवार भी आएँगी। बस, बापट की बहन, नीरा, से इतवार को बात करूँगा। नीरा ही मेरे लिए ठीक है। इंटर पास है, सीना-पिरोना जानती है, गाना भी गा लेती है, खाना अच्छा बनाती है, देखने में सुन्दर है’....’

वसंतराव, बड़ी बेचैनी के साथ इतवार का इन्तज़ार करने लगा।

इतवार आया और नीरा भी आई। मगर वसंतराव ने नीरा से बात न की और न बापट से ही कोई ज़िक्र छेड़ा। इसका एक कारण था। क्लब में आते ही उस रोज़ वसंतराव

की आँखें पिंगपाँग खेलती हुई एक युवती पर पड़ीं जो उसके दिल में घर कर गई। युवती विशेष रूपवती तो न थी पर उसकी मुस्कुराहट घातक थी। उसके सफ़ेद मोती-से दाँत बड़े सुन्दर और बड़े प्यारे लगे। उसकी आँखें भी अच्छी थीं पर दाँतों की सुन्दरता विलक्षण थी। वह रीझ गया—उसके दाँतों पर। परिचय होने में देर न हुई।

उसका नाम कमला था। वह यहाँ क्लब में बहुतों को जानती थी। ब्रिज अच्छा खेलती थी। वसंतराव और कमला ब्रिज में पार्टनर हुए। खेलते-खेलते वसंतराव कमला को ताका करता। कमला उसे तकता देख, पत्तों के पीछे से, मुस्कुरा दिया करती और उसके मोती-से दाँत चमचमा उठते और वसंतराव का दिल बल्लियों उछल जाता। वसंतराव—प्रोफ़ेसर वसंतराव—आज जान पाया कि जिसे प्रेम कहते हैं, वह उसके मन-मन्दिर में आज, इस घड़ी, उत्पन्न हो रहा है। ऐसे प्रेम को अँगरेजी में 'लव ऐट फ़र्स्ट साइट' कहते हैं—यानी देखते ही रीझ जाना। वह सोचने लगा शायद कमला के दिल का भी यही हाल है, तभी तो रह-रहकर उसे देख वह मुस्कुरा देती है

नीरा अपने भाई और भाभी के साथ उठकर क्लब से कब चली गई वसंतराव को पता भी न चला। वह तो कमला में खोया हुआ था—मोती-से दाँतोंवाली कमला में। क्लब से जब वसंतराव बाहर निकला तो कमला उसके साथ थी और आकाश में चाँद निकला हुआ था।

“चलिए, मेरे घर चलिए,” कमला ने कहा। “होटल में

तो रोज़ ही खाते हैं आप। आज मेरे घर खाकर जाइए—
अपने हाथों से बनाया है खाना।”

अंधा क्या चाहे दो आँखें। सच है, भगवान् जब देता है तो छप्पर फाड़ के देता है। कल तक लड़कियों के पीछे मारा मारा फिर रहा था और आज लड़की फिर रही है उसके पीछे। और लड़की भी ऐसी कि उसके सहकारी, उसके विद्यार्थी देखें तो गश खाकर गिर पड़ें। लड़की क्या है, अप-टू-डेट, मॉडर्न मेमसाहब है। मुँह पर पाउडर और होंठों पर लिपस्टिक लगाती है, बाल कटे हुए हैं और नाखूनों पर नेल-पॉलिश लगा हुआ है, किसी मादक सेंट की खुशबू से कपड़े महक रहे हैं.... सुनार के घर में वह पैदा हुआ, अँधेरी तंग गली में पला, बड़ा, एम० ए० पास किया, प्रोफ़ेसर बना, फ़्लैट में रहने लगा और आज मोती-से दाँतवाली ब्राह्मणी के साथ, उसके घर, उसके हाथ का पकाया हुआ खाना खाने जा रहा है। सफलता इसको कहते हैं.... इस कमला पर हजार सुनारनें और दस-बीस नीराओं को वह निछावर कर सकता है....

कमला के घर से खाना खाकर जब वसंतराव अपने फ़्लैट लौटा तो रात के दो बज रहे थे। जाते ही पलंग पर पड़ गया। पर उसे नींद न आई। पड़ा-पड़ा वह सोचने लगा— कमला के बारे में। कमला के घर, कमला के साथ, बिताई हुई घड़ी याद आने लगी। कितनी अच्छी थी यह कमला। उसका पूरा नाम श्रीमती कमला देशपांडे था। पति फ़ौज में लेफ़्टेनंट था और सात साल हुए कश्मीर में, पाकिस्तान की भड़प में मारा गया था। कमला विधवा थी। संसार में अपनी

कहने लायक अब उसके पास दो ही वस्तुएँ थीं—अपना खुद का मकान 'विनोद निवास' था शिवाजी पार्क में; और अपना एक ही एक ग्यारह बरस का लड़का था—विनोद....और हाँ, एक चीज़ और थी उसके पास—उसके मोती-से दाँत !

उस रात वसंतराव को नींद न आई। सारी रात वह कमला के बारे में और उसके मोती-से दाँतों के बारे में सोचता रहा।

दूसरे दिन उसने प्रोफ़ेसर सेठ से कमला का जिक्र किया और मन की बातें कह दीं।

“पर, यार—” सेठ ने कहा, “मैं तो समझा हुआ था कि तुम नीरा को—खैर, यह कमला तुम्हें भा गई है तो कमला ही सही—मेरा मतलब है अब देर न करो—जिससे भी हो, अब कर डालो शादी। अच्छी तरह सोचकर, देख-भालकर, बस अब तय कर डालो शादी वरना ताक-भाँक में ही उमर गुज़र जाएगी।”

“सब तय कर लिया है,” वसंतराव ने कहा।

“क्या तय कर लिया है?”

“शादी।”

“अच्छा ! इतनी जल्दी ? पहली ही मुलाकात में प्रेम भी हो गया, उसके घर खाने भी चले गए, रोमांस भी हो गया और शादी की बात भी तय कर आए ! भाई, फिर तो तुम्हें बधाई देता हूँ। कब है शादी ?”

“कमला ने मुझ पर छोड़ रखा है। मैं सोच रहा हूँ अगले शनीचर को ठीक रहेगी। कमला को धूम-धाम पसंद नहीं, सो पण्डित बुलाकर शाम को 'विनोद निवास' में हम लोग फेरे

डाल लेंगे और फिर उसके बाद, वहीं पर, दोस्तों को छोटी-सी पार्टी दी जाएगी। ठीक है न?"

सेठ, विस्मित आँखों से खड़ा सुन रहा था। "ठीक है," उसने कहा। पर उसकी आँखें फटी की फटी ही रह गईं।

अगले शनीचर की शाम वसंतराव और कमला की शादी हो गई। शादी में कमला की ओर से तीन-चार सम्बन्धी या पड़ोसी उपस्थित थे और वसंतराव की ओर से केवल सेठ और उसकी पत्नी। कमला के बेटे, विनोद, ने बताशे और नारियल बाँटे थे।

उसी शाम, शादी के बाद ही, छोटी-सी पार्टी दी गई थी। इस पार्टी में वसंतराव ने अपने भाइयों को भी सपरिवार आमंत्रित किया था। उनमें से तो कोई न आया पर कॉलेज के बहुत सारे विद्यार्थी, बिना बुलाए ही, टिड्डियों के दल की तरह, 'विनोद निवास' पर टूट पड़े—पार्टी की मिठाई खाने के लिए नहीं, प्रोफ़ेसर राव की दुलहन का देखने के लिए।

दुलहन देखकर किसी को ग़श नहीं आया और न कोई ग़श खाकर ही गिरा। वैसे तो जितने मुँह उतनी बातें होती हैं। किसी ने कहा : "बड़ी है!" किसी ने : "बुढ़िया है—प्रोफ़ेसर राव से पाँच साल तो बड़ी होगी उम्र में!" किसी ने कहा : "एक बच्चे की माँ है!" किसी ने : "यार, घर की लालच में शादी की है राव ने!" किसी ने : "भई, बुरी बात क्या है? बैठे-बिठाए घर भी मिला, घरवाली भी, और बेटा भी हो गया!" किसी ने कहा : "पर यार, दाँत बड़े बाँके हैं!" विद्यार्थियों के यह सब उद्गार आपस में ही निकले, जाहिरा

तो उन्होंने नृवदम्पति को ज़ोरों से बधाई दी और फिर अपने अपने घर चल दिए। ज़ोरों से बधाई सिर्फ़ सेठ ने न दी। वास्तव में उसने बधाई ही न दी। केवल हाथ मिलाकर नाटकीय ढंग पर राव से उसने इतना कहा : “सुखमय और चिरस्थायी वैवाहिक जीवन के लिए हमारी शुभ कामनाएँ तुम्हारे साथ हैं, मिस्टर गाढवे !” और फिर प्रोफ़ेसर सेठ अपनी पत्नी को लिए चल दिया।

“गाढवे” में छिपा हुआ व्यंग्य वसंतराव की समझ में उस वक़्त न आया, उस रात भी न आया क्योंकि रात में उसे होश न था। दूसरे दिन सुबह—बड़ी देर में—जब धूप खिड़की में से आकर उसके मुँह पर तमाचे मारने लगी तब—वसंतराव की नींद टूटी। वह बिस्तर पर उठ बैठा। बाजू में उसकी दुलहन पड़ी सो रही थी। अँगड़ाई लेकर वह फिर लेट गया। अलसाई आँखों से सहसा उसने देखा कमला का मुँह उसके बहुत पास आकर मुस्कुरा रहा था और उसके मोती-से दाँत उसकी आँखों के सामने, बहुत पास, चमचमा रहे थे। उसने आँखें मलीं और खोल दीं। मुँह गायब हो गया। कमला का मुँह गायब हो गया। सिर्फ़ हँसते हुए दाँत रह गए। वह पूरी तरह जागकर उठ बैठा और आँखें फाड़ फाड़कर सामने देखने लगा। सामने टेबल पर एक तश्तरी में पड़े हुए दाँत मुस्कुरा रहे थे—कमला के वही मोती-से दाँत !

....और तब सेठ के उद्गारों में छिपा हुआ व्यंग्य अकस्मात् ही वसंतराव की समझ में आ गया। “गाढवे !” उसने कहा था—यानी “गधे !”

नीली-नीली तितलियाँ

वम्बई से जब पंजाव मेल चली थी तो अपने डिब्बे में मैं अकेला था। कहाँ तो टिकट न मिलने की वजह से मुझे वम्बई में तीन रोज़ बेकार ठहर जाना पड़ा था और कहाँ आज जब टिकट मिला तो सारा डिब्बा खाली था। मुझे बड़ी भुँभलाहट हुई। दिल्ली तक सफ़र और फिर अकेले ! यह तो एकान्तवास हो गया। जब तक कोई बातचीत करनेवाला साथ में न हो रास्ता काटना मेरे लिए दुश्वार हो जाता है। मुझे बातें करने की शायद आदत है। रेल का सफ़र मुझे इसी-लिए पसंद है कि गाड़ी में कोई न कोई ऐसा जरूर मिल जाता है जिसके साथ बातचीत करते हुए सफ़र काटना आसान हो जाता है।

लेकिन आज पंजाव मेल के उस डिब्बे में अकेले बैठे बैठे जो ऊब गया। रेल की पटरियों पर काम चल रहा था, इसलिए गाड़ी धीरे-धीरे चल रही थी। लगभग पौन घंटे के बाद कल्यान का स्टेशन आया। मैं नीचे उतर पड़ा और प्लेटफ़ार्म पर टहलने लगा। गाड़ी ने सीटी दी। मैं डाइनिंग कार में बैठ गया। सोचा डाइनिंग कार में जरूर लोग होंगे। वैसा ही हुआ। अभी रात के खाने में समय था, पर लोग जमे हुए थे।

मैंने एक मेज़ चुनकर अपनी जगह ले ली। आजूबाजू के

लोगों के साथ बातचीत करता हुआ आराम से मैंने खाना खाया ।

इगतपुरी पर गाड़ी रुकी तो मैंने सोचा अब जाकर अपने डिब्बे में बैठना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि उधर कोई सामान गायब कर दे। अपने अकेलेपन की भुँभुलाहट में सामान का मुझे खयाल ही न रहा था। मैं लपककर अपने डिब्बे के पास पहुँचा और दरवाज़ा खोलकर अन्दर हो गया। गाड़ी फिर चल दी।

सामानवाली बर्थ पर एक बिस्तर लगा हुआ था और गुसलखाने के अधखुले दरवाज़े के पीछे से किसी व्यक्ति के मुँह-हाथ धोने की आवाज़ आ रही थी। दिल को राहत हुई। अब मैं अकेला नहीं, डिब्बे में एक साथी था।

मेरी समझ में नहीं आया कि वह शख्स बाथरूम में इतनी देर तक क्या कर रहा है। मुझे ऐसा लगा मानो वह नल के पानी से खेल रहा हो। नल की छर्र, साबुनदानी की खन-टन, साबुन मलने की वह पहचानी हुई आवाज़, मुँह-हाथ पर तौलिये की रगड़न—यह सब हलकी, मंद ध्वनियाँ बाथरूम के उसी अधखुले दरवाज़े से मैं सुन रहा था। आखिर नल बंद हुआ, साबुनदानी बंद हुई, और तौलिया रखा गया और छोटी अटैची बंद हुई। फिर बिलकुल खामोशी हो गई। शायद शीशे में मुँह देखा जा रहा था। फिर एक छक्क का आवाज़ हुआ। मैं चौंक गया। फट से दरवाज़ा खुला और बीअर की खुली हुई बोतल एक हाथ में और दूसरे में अटैची, तौलिया लिए वह शख्स बाथरूम से निकलकर बाहर आया। एक क्षण मेरी

ओर देखकर वह सीधा अपने बर्थ पर जा बैठा। अटैची से उसने एक ग्लास निकाला और थर्मस से बर्फ़। बड़े आराम से बैठकर वह बीअर पीने लगा। उसने कुरता-पाजामा पहन रखा था और ऊपर से लाल रंग का ऊनी गाऊन डाले हुए था। कुरते की सब बटन खुली हुई थीं और अन्दर से उसकी गोरी छाती के काले घुँघराले बाल झाँक रहे थे।

थोड़ी देर बाद वह उठा और खूँटी पर टँगे हुए पतलून की जेब से उसने सिगरेट और लाइटर निकालकर सिगरेट सुलगाई। फिर कोट की जेब से रुमाल निकालकर उसने बीअर के ग्लास पर बाहर जमी हुई बूँदें पोछीं और बाजू में पड़ी हुई किताब उठाकर उसके पन्ने उलटने लगा।

मेरी तबीअत हुई कि उससे बातचीत शुरू करूँ। पूछूँ कि वह कौन है, कहाँ से आ रहा है, कहाँ जाएगा। मगर वह तो पढ़ने में व्यस्त था, सिगरेट और बीअर में मस्त था। मैंने खलल डालना मुनासिब न समझा और कपड़े बदलकर अपने बिस्तर पर लेट गया। सुबह देखा जाएगा। सारा सफ़र बाक़ी है अभी तो। मैं सो गया। थोड़ी देर बाद कुछ आहट हुई। मैंने देखा वह खाना खा रहा था। मैं फिर सो गया।

सुबह आँख खुली तो देखा गाड़ी स्टेशन पर खड़ी हुई थी। चाय पीने को जी हुआ। मैंने सोचा अपने साथी से भी चाय के लिए पूछूँ। मगर मेरा साथी न था। उसका सामान भी न था। रात ही को शायद कहीं वह उतर पड़ा था। खैर, अकेले ही मैंने चाय पी और फिर लेट गया। मुझे झपकी लग गई। जब मेरी आँख खुली तो दिन काफ़ी चढ़ आया था।

मगर मैं लेटा ही रहा। रातवाले अपने उस साथी के बारे में सोचने लगा। उसकी बड़ी-बड़ी खूबसूरत आँखें, उसकी छाती के घुँघराले बाल, उसका लाल ड्रेसिंग गाऊन, उसका आहिस्ता आहिस्ता बीअर पीना, उसके मुँह से निकलते हुए सिगरेट के धुएँ के छल्ले, अँगूठी और घड़ी उतारकर मेज़ पर रखने का उसका तरीका—उसकी अपनी अदा थी। मुझे हर खूबसूरत चीज़ अच्छी लगती है। 'इसीलिए वह आदमी भी मुझे अच्छा लगा।

सहसा मेरी निगाह सामनेवाले बर्थ के नीचे पड़ी हुई किसी चीज़ पर गई। मैं उठ बैठा। बर्थ के नीचे पड़ी हुई चीज़ किताब थी। मैंने जाकर किताब उठा ली। यह वही किताब थी जो रात वह पढ़ रहा था। अँगरेज़ी किताब थी—'दी बॉडीज़ रैपचर'—फ्रेंच उपन्यास का अँगरेज़ी रूपांतर।

किताब पर कोई नाम ठिकाना नहीं लिखा था। फ़्लाय-लीफ़ पर 'ए० एच० ह्वीलर ऐण्ड कम्पनी' का रबर स्टैम्प लगा हुआ था। किसी स्टेशन पर किसी बुक-स्टॉल से खरीदी गई थी। यह किताब मेरी पढ़ी हुई थी फिर भी मैं यूँही उसके पन्ने उलटकर इधर-उधर पढ़ने लगा। अचानक मैंने देखा पन्नों के बीच एक चिट्ठी दबी हुई थी। नीले कागज़ पर जनाने हाथों से लिखी हुई लम्बी चिट्ठी थी। मुझे कौतूहल हुआ। मैं पढ़ने लगा। चिट्ठी इस प्रकार थी :

प्रिय कुअँर जा,

कभी लिखती हूँ और कभी कागज़ फाड़ देती हूँ। कुछ समय में नहीं आता कि लिखना कहाँ से शुरू करूँ। थोड़ी देर हुई मैंने सोचा

टेलीफोन पर तुमसे बात ही कर लूँ। शायद तुम्हारी आवाज सुनकर बिल को कुछ इतमीनान आ जाए। मगर तुम घर पर न थे। तुम्हारे नोकर ने कहा : “साहब दफ्तर गए हैं। आप कौन मेमसाहब बोल रही हैं?” मैं चुप हो गई और मैंने टेलीफोन बंद कर दिया। और क्या करती ?

आजकल तो घड़ी-घड़ी सितारे बदल रहे हैं, क्योंकि हमारी इतनी हिम्मत बढ़ती जा रही है कि कभी तुम्हें फ़ोन कर लेती हूँ और कभी तुमसे मिलने क्लब आ जाती हूँ। उस दिन शाम को जब मैं क्लब से वापस लौटी और घर आई तो मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि सबकुछ मैंने तुम्हें अपने हाथ से छुआ है और खुद अपनी आँखों से देखा है। बाद में खयाल आया कि तुम बहुत जल्दी चले गए। ऐसे चले गए जैसे हवा, जिसे मैं पकड़ न सकी। फिर जो कुछ तुमने कहा था याद आने लगा। घर पर बैठे भी यूँ लग रहा था कि सब बातें तुम अभी तक कह रहे हो—जैसे मेरे कानों को भी सुनाई दे रही हों। ‘मैं तुम्हें हमेशा, हर वक़्त याद करता हूँ। घर में, दफ़्तर में, क्लब में—हमेशा तुम्हारा खयाल मुझे बना ही रहता है... अपने दिमाग में तुम्हारे साथ जाने क्या कुछ किया करता हूँ... आज चाँदनी रात है। ऐसी रात में मुझे नींद नहीं आती। तुम सो जाओ।’ हम कैसे सो जाएँ, हमें भी नींद नहीं आती—हर-रोज। आधी से भी ज्यादा रात गुजर जाती है तो शायद करवटें बदल बदलकर बदन थककर सो जाता है। सोते में भी तुम अकसर आ जाते हो। लेकिन अजीब तरीक़े से—जैसे कि तुम्हारी आदत है। यानी मैं पलंग पर लेटी रहती हूँ और तुम लाल रंग का ड्रेसिंग गाऊन पहने मेरे कमरे का दरवाज़ा आहिस्ता से खोलकर मुझे अपने साथ ले जाते हो—कभी मोटर में, कभी किशती पर और कभी अपने पलंग पर। और खुशी से मेरे हाथ-पाँव फूल जाते हैं। हृद से ज्यादा खुशी का असर सपने में जब मेरे बदन पर होता है, तो मेरी आँख खुल जाती है। उस वक़्त बड़ी कोसल होती है। मैं बिस्तर पर पड़ी-पड़ी

चुपके-चुपके रोने लगती हूँ। कानों में आँसुओं का ठंडा पानी ज़हर लगता है। मेरे पलंग की आवाज़ सुनकर एक रोज़ उन्होंने बत्ती जला दी। क्या बताऊँ, मेरी तो जान निकल गई कि अगर मेरी परेशानियाँ चेहरे से नज़र आ गईं तो क्या होगा! ... पूछने लगे कि क्या बात है। मैंने कहा: 'घर में कुछ आहट हो रही है ज़रा उठकर देखो।' तो ऐसे ज़रा बात बदली। उन्होंने फिर भी जान लिया। शायद मेरे चेहरे से ताड़ गए। उसके बाद तो तुम्हारा हो ज़िक्र होने लगा। कहने लगे: 'वह तुम्हें बड़ा अच्छा लगता है न? ... उसमें ऐसा क्या कुछ है जो मुझे नहीं? ...' अब मैं क्या कहूँ उनसे। यह तो मुझे भी नहीं मालूम कि तुम में वह कौनसी खासियत है जो मुझे और किसी में दिखाई नहीं पड़ती, जो मुझे दीवाना बनाए हुए है। कहने लगे: 'उसे भूल जाओ।' मैं कैसे भूलूँ? भला मैं जानबूझकर तुम्हें याद करती हूँ? तुम तो खुद-ब-खुद ही याद आ जाते हो। मैं क्या करूँ? अगर याद न करने की कोशिश करती हूँ, तो और ज़ोरों से याद आने लगते हो। तुम भी तो कहा करते हो: 'मुझे भूल जाओ।' तुम्हें शर्म नहीं आती ऐसा कहते?

कल रात जब मैं यह लिख रही थी तो मेरी आया मेरे पास आई और कहने लगी: 'अब सो जाओ। बाकी कल लिख-पढ़ लेना।' दिल तो नहीं चाह रहा था मगर मजबूरन बत्ती बंद करनी पड़ी। जैसे ही मैंने अँधेरे में चादर ऊपरली और मैं नीचे को सरकी तो मुझे ऐसे लगा कि तुम मेरे पास हो, उसी चादर में। तुम्हारा गर्म-गर्म हाथ मेरे सीने पर सह-सूस होने लगा और तुम्हारी नशीली साँसों की खुशबू भी आने लगी; लेकिन वह तुम्हारी अलसाई हुई मदमस्त आँखें मेरे सामने न थीं, न वह प्यार से बोलने का अंदाज़, न वह अचानक 'राधा' कहकर पुकारना था, न वह तुम्हारा घड़ी-घड़ी उठकर पानी पीने का तरीक़ा था, न वह इलायचियाँ थीं, न वह सिगरेटें थीं और न तुमने अपनी अँगूठी और घड़ी उतारी थी। देखनेवाली और छूनेवाली तो मेरे पास तुम्हारी कोई भी चीज़ नहीं थी। सिर्फ़ अँधेरे में एक भटकता हुआ खयाल था, जिस

खयाल को मैं असलियत समझती हूँ। तभी तो दिल बहलता है। वनी ज़िन्दगी कैसे कटेगी? तुम्हारा मिलना इस जन्म में नहीं तो अगले में सही। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम मेरे ही हो, हमेशा से। मैं कहीं भी रहूँ, किसी की भी कहलाऊँ, मगर तुम्हारी ही चीज़ हूँ। मैं तुम्हें ही चाहती हूँ। तुमसे ही मुझे सबसे ज्यादा प्रेम है। तुम मुझे इतने अच्छे लगते हो कि मैं बतला नहीं सकती। कहने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। शायद कभी मेरे पास रहो तो समझ सको। ऐसी बातों का कहने से अंदाज़ा नहीं होता। बहुत अच्छे लगते हो। दुनिया में तुम जैसा कोई भी नहीं। इतना प्यारा और इतना अच्छा। दिल चाहता है कि तुम्हारे पाँव चूम लूँ, तुम्हारा अंग-अंग चूमकर गीला कर दूँ।

अगर पाँच साल पहले तुम मुझसे शादी करने आते तो शायद मैं इसी खुशी में मर जाती। भगवान ने इसीलिए हमारी शादी नहीं की। अब भी क्या कमी है? तुम कुछ भी कहो, दिल से हमने तुमसे ही शादी की हुई है। मैं समझती हूँ कि मुझे तुम्हारे ऊपर हर तरह का हक़ है। जाहिर नहीं कर सकती हूँ लेकिन मन से तो है। दिल से तो तुम मुझे प्यार करते हो न? तो बस, इससे बढ़कर और रिश्ता क्या हो सकता है? सच्ची चाहत से ज्यादा भगवान और क्या दे सकता है।

तुम कहते हो: 'भूल जाओ।' शायद तुम्हें आदत है भूल जाने की। मैं तुम्हें ग़र नहीं समझती। हमने तुमसे ऐसे ही खेलना नहीं चाहा। न ही हमें किसी भी क्रिस्म का लालच है, न या तुम्हारे साथ। यह तो बात ही बात में हम तुममें खो गए, तुम्हारे ही हो गए। हमेशा रहेंगे। चाहे तुम हमसे नफ़रत करो। मुझे यह खयाल भी नहीं आता कि कभी तुम मुझे भूल जाओगे। यह मुश्किल है। मुझे यही लगता है कि तुम भी मुझे वैसे ही प्यार करते हो जैसे मैं तुम्हें करती हूँ। तुम भी मुझे वैसे ही याद करते हो। अगर ऐसा न हो, तो मेरी दीवानगी में एकदम फ़र्क़ आ जाए। जब-जब तुम मुझे याद करते हो मुझे पता लग जाता है। यह झूठ नहीं है। यह दिखलावा नहीं है। यह सच है। तुम तो जानते हो।

जब तुम नज़र नहीं आते, जब तुम पास नहीं होते, तो दिल बड़ा दुखता है। मैं बड़ी उदास हो जाती हूँ। कभी-कभी सोचती हूँ कि तुमसे कुछ ऐसी चीज़ ले लूँ जो बोल सके और मेरी छाती के साथ सारी ज़िन्दगी लगी रहे। उस पर तुम राज़ी नहीं होते हो। अच्छा, जैसा तुम कहो। तुमसे न नहीं की जाती। तुम हाँ कहो तो हाँ लगता है, न कहो तो न।

तुम बम्बई छोड़कर जा रहे हो। सदा के लिए जा रहे हो? कहाँ जाओगे मुझे तुमने नहीं बताया। फिर तो तुमसे मिलना न हो सकेगा। तुम्हें देख भी न सकूँगी। टेलीफ़ोन पर तुमसे बात भी न कर सकूँगी। कब जा रहे हो? क्यों जा रहे हो? जाने से पहले मुझसे मिलोगे न? बतौर मिले न चले जाना वरना मैं मर जाऊँगी। मुझे तुमसे अभी कितना कुछ कहना है, पूछना है, सुनना है। परसों इतवार है। शाम को क्लब आ रहे हो न?

तुम्हारी

राधा

चिट्ठी समाप्त हो चुकी थी। चिट्ठी के पन्नों से हलकी हलकी खुशबू उड़ रही थी। मैं न जाने क्या कुछ सोचने लगा। सहसा हवा का भोंका आया और मेरी गोद में पड़ी हुई चिट्ठी के नीले पन्ने फर-फर करते खिड़की से बाहर को उड़ निकले। उड़ते हुए पन्ने ऐसे लगे मानो नीली नीली तितलियाँ उड़ी जा रही हों। मैंने मुस्कुरा दिया और फिर बर्थ पर लेटकर अपनी आँखें बंद कर लीं। लोहे की पटरियों पर पंजाब मेल तेज़ी से चली जा रही थी।

मुँहदिखाई

“मैंने कहा अब और कितनी देर लगेगी तुम्हें?” बकुल ने स्टोव का पम्प चलाते हुए पूछा।

“तुम चाय तो पीयो। मैं अभी आई,” दूसरे कमरे से शान्ति ने उत्तर दिया।

स्टोव पर से उबलते हुए पानी की केतली बकुल ने नीचे उतारी और पुड़िया में बची-खुची चाय की पत्तियाँ पानी में छोड़ दीं। दूध डालकर जब चीनी के लिए हाथ बढ़ाया तो कटोरी खाली थी।

“चीनी तो है नहीं कटोरी में, चाय कैसे पीऊँ!”

“शीशी में होगी न। निकाल लो शीशी से।”

“कहाँ है शीशी?”

“वहीं होगी...जाली की आलमारी में तो देखो। एक मिनट ठहर जाओ न, मैं आकर बना देती हूँ।”

“मिल गई, मिल गई।” बकुल ने जल्दी-जल्दी चीनी मिलाई और छत्री से छानकर दो कप चाय तैयार की। “तुमने तो सजने में इतनी देर लगा दी कि जान पड़ता है मधुकर की दुलहन की नहीं बल्कि तुम्हारी मुँहदिखाई होने वाली है।”

दूसरे कमरे में शान्ति खिलखिलाकर हँस पड़ी। शान्ति

बड़ा अच्छा हँसती थी। तीन महीने पहले जब बकुल अपने भाई के साथ शान्ति को देखने उसके घर भोपाल गया था तो शान्ति की सूरत देखने से पहले उसने अन्दर से आती हुई उसकी हँसी सुनी थी और तभी उसने मन में शान्ति को स्वीकार कर लिया था। बाद में जब उसने सूरत देखी तो बम्बई तार देकर अपनी छुट्टी एक हफ्ते के लिए और बढ़वा ली और भाई से कहकर तभी, उसी दम, शादी तय कर ली। चार, पाँच दिनों के अन्दर-अन्दर ही शादी के निमंत्रण पत्र छपवाए गए, बाँटे गए और तमाम बंदोबस्त किया गया। शान्ति के पिता रिटायर्ड पोस्टमास्टर थे। खुली तबीअत के थे। वह भी बहुत अच्छा हँसते थे, शान्ति की ही तरह खिलखिलाकर हँसते थे। उन्होंने कोई एतराज नहीं किया। चार दोस्तों को और चार सम्बन्धियों को बुलाकर चटपट ब्याह कर दिया। ब्याह के दूसरे दिन ही भाई अपने काम पर मेरठ चले गए और दुलहन को साथ लिए बकुल बम्बई चला आया।

दादर पर 'हरि विहार' में उसके पास दो कमरे का छोटा-सा फ्लैट था जिसमें शान्ति ने आकर बकुल के लिए गृहस्थी जमा दी। दो जनों के लिए दो कमरे काफ़ी थे। एक कमरा रसोईघर था और दूसरा रहन-सहन का कमरा था, जो दिन को बैठक बन जाता था और रात को शयनागार। दफ़्तरों में काम करनेवाले लाखों बाबू लोग, स्कूलों के हजारों अध्यापक और छोटे धंधे-रोज़गारवाले लाखों दूसरे व्यक्ति, अपने छोटे बड़े कुटुम्ब के साथ, बम्बई में ऐसे ही दो कमरोंवाले फ्लैट की चालों में घुसे बिलबिलाया करते हैं। मगर बकुल और शान्ति

अपने नए दाम्पत्यजीवन को पाकर खुश थे। किसी से उन्हें कोई शिकायत न थी। न किसी के यहाँ उनका आना-जाना था। बकुल सुबह अपने दफ़्तर जाता और शाम को घर लौट आता। शान्ति दिन भर घर में रहती और घर का काम-काज करती, बरतन मलती, कपड़े धोती, खाना पकाती, और जब बकुल वापस आता, उसके साथ गपशप लगाती, पास ही समुद्र के किनारे घूमने जाती और खिलखिलाकर हँसती। बम्बई में उनका कोई सगा-सम्बन्धी न था। चाल में रहनेवाले दूसरे पड़ोसियों से उनका कोई परिचय न था। ऊपर, नीचे और आजूबाजू क्या होता है, कौन रहता है, कौन क्या करता है—उन्हें कुछ पता न था। वह दोनों, अपने आप में मग्न, बिल्कुल उसी तरह रह रहे थे जैसे बम्बई में और भी दूसरे लाखों जने रहा करते थे। पड़ोसी को पड़ोसी की कोई खबर नहीं होती।

“क्या कर रही हो? तुम्हारी चाय ठंडी हो रही है,” बकुल ने कहा।

इसी दम हाथ में फूलों की बेनी लिए शान्ति ने रसोईघर में प्रवेश किया।

“माथे पर टीका लगा रही थी,” उसने कहा। “ज़रा यह बेनी तो बाँध दो मेरे जूड़े पर।”

“तुमने तो मार डाला!” बकुल ने उसे छेड़ते हुए कहा।

“मधुकर की दुलहन बेचारी आज तुम्हारे सामने फीकी पड़ जाएगी।”

“चलो!” शान्ति लजा गई।

बकुल ने पत्नी के जूड़े पर गजरा लपेटकर बाँध दिया। दोनों ने चाय पी और दरवाज़े को ताला लगाकर चल दिए। सामने ही बस-स्टैंड था जहाँ उन्होंने बस पकड़ी और परेल के लिए रवाना हो गए।

“दिन अच्छा मालूम होता है,” शान्ति ने पति से कहा। “बस-स्टैंड पर पहुँचते ही बस भी आ गई और जगह भी मिल गई। नहीं तो घण्टा-घण्टा भर ब्यू में खड़ा रहना पड़ता है।”

“आज इतवार जो है। छुट्टी के दिन बस में ज्यादा भीड़ नहीं होती,” बकुल ने कहा।

बस तिलक ब्रिज पर से होती हुई खुदादाद सर्कल पर आई और फिर चक्कर काटकर परेल के लिए दाईं ओर मुड़ गई।

डबल डेकर बस पर ऊपर की मंज़िल पर बैठना शान्ति को बड़ा अच्छा लगता था। ज़मीन पर चलनेवाली सवारियों में ज़मीन से इतनी अधिक ऊँचाई पर बैठकर और किसी सवारी पर सैर नहीं की जा सकती। और फिर इस आसानी से! इस मजे के साथ! दो आने, चार आने में! कहाँ भोपाल के वह ताँगे और कहाँ बम्बई की यह लाल-लाल दो मंज़िला बसें! डामर की काली-काली चिकनी सड़क पर जब रपट कर चलतीं तो तबीअत बहाल हो जाती, नशा हो जाता—वैसा ही नशा जैसा सलाई से थोड़ा सा क्रिमाम लेकर कभी-कभी पान में लगाकर जब शान्ति खाती तो हो जाया करता था। खटकनेवाली अगर कोई बात थी तो वह केवल यही कि सारे के सारे यात्री ऐसे चुप बैठे होते हैं कि मानो उन्हें साँप सूंघ

गया हो—और वह भी चित्ती या नाग साँप। अगर यह सारे के सारे बोलने लगें, बातचीत करने लगें, रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह अगर इनमें कोई बाँसुरी बजाने लगे तो, अहा, क्या बात हो! मगर नहीं, यह कैसे हो सकता है? यह तो बम्बई की बसें हैं, कोई इन्द्रलोक के उड़नखटोले थोड़े ही हैं। घर में हों या बस में, बम्बई के लोग एक दूसरे से बात थोड़े ही करेंगे। तभी तो इतनी भीड़ के बीच भी बम्बई में कभी-कभी अकेला अकेला लगता है.....

“उठो, परेल आ गया,” बकुल ने कहा और दोनों जने परेल बस-स्टैंड पर उतर पड़े। बस बायकला की ओर चल दी।

“चलो न, खड़े क्यों हो गए?” शान्ति ने पूछा।

बकुल अपनी जेबें टटोल रहा था। “मधुकर के ब्याह का निमंत्रण-पत्र शायद मैं घर ही में छोड़ आया,” उसने कहा। उसके होश उड़े हुए थे।

शान्ति खिलखिलाकर हँस पड़ी। राह चलते लोग उसे देखने लगे। उसे हँसते देख खुद भी हँसने लगे। फर्क इतना था कि शान्ति खिलखिलाकर हँस रही थी और वह चुप हँसी हँस रहे थे। चुप हँसी इसलिए हँस रहे थे कि उन्हें शान्ति की तरह खिलखिलाकर हँसना नहीं आता था। लोगों को तकते देख वह चुप हो गई। लोग चल दिए।

“क्यों परेशान हो रहे हो?” हँसी रोकती हुई वह बोली। “घर में छोड़ आए तो क्या बिगड़ गया? तुम्हारे दोस्त की शादी का निमंत्रण-पत्र ही तो था, कोई सिनेमा

का टिकट तो न था कि बिना उसके कोई अंदर न जाने देगा।”

“मधुकर के घर का पता तो उसी में लिखा था। मकान का नाम मुझे याद नहीं,” बकुल ने परेशानी के साथ कहा।

“यह लो! तुम्हारा दोस्त और तुम्हें उसके मकान का नाम भी नहीं पता!”

“दफ़्तर की ही दोस्ती है। दफ़्तर में ही हम लोग मिला करते हैं। उसके घर जाने का मुझे कभी मौक़ा नहीं हुआ।”

“अब क्या होगा?”

“समझ में नहीं आता। तुम अगर यहाँ ठहरो तो मैं घर जाकर निमंत्रण-पत्र ले आऊँ।”

“बापरे! ... और मैं आधा घंटा सड़क पर खड़ी रहूँ! कोई मुझे भगा ले गया तो?”

“कोई नहीं भगाएगा। लाओ, मुझे घर की चाबी दो।”

“ठहरो,” शान्ति ने कहा। “ज़रा याद तो करो पता। शायद याद आ जाए। जहाँ तक मेरा खयाल है कोई ‘बाग’ था।”

“विट्ठल बाग! बिट्ठल बाग!” बकुल बोल पड़ा। याद आ गया। चाल का नाम ‘विट्ठलबाग’ है। सड़क का नाम याद नहीं, पर पूछने से पता चल जाएगा।”

“फ़्लोर और कमरे का नम्बर?”

“एक बार ‘विट्ठलबाग’ तो मिल जाए, बाक़ी सब वहीं पता चल जाएगा। शादी का बाजा तो बज ही रहा होगा।”

“तुम हो अक्लमंद!” शान्ति ने कहा। “शादी तो

उसकी परसों थी—पूना में। आज यहाँ उसके घर पर दुलहन की मुँहदिखाई की पार्टी है।”

“हाँ हाँ, तो क्या हुआ? मुँहदिखाई पर क्या बाजा नहीं बजता?”

“तो चलो न फिर, खड़े क्यों हो? पूछो लोगों से, शायद वह जानते होंगे ‘विट्ठलबाग’ का पता।”

बकुल और शान्ति पूरे आध घंटे तक परेल की गलियों में इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर मारते रहे पर उन्हें ‘विट्ठलबाग’ चाल, जिसमें मधुकर रहता था, न मिली। पचासों से पूछा होगा, मगर किसी को पता न था कि वह चाल कहाँ है। आखिर हताश होकर दोनों के दोनों एक मकान की दीवार से टिककर छाँह में खड़े हो गए।

“अब क्या होगा?” शान्ति ने पूछा।

“अब घर चलकर एक कप गरम-गरम चाय पिएंगे,” बकुल ने कहा। “जाने कहाँ गायब हो गया ‘विट्ठलबाग’!”

और तब एक हाथ से बकुल के बुशकोट का कॉलर पकड़ कर शान्ति ने उसे जोर से खींचा और दूसरे हाथ से इशारा करके बोली: “वह देखो! वह लिखा है ‘विट्ठलबाग’।”

बकुल ने देखा सामने ही बड़ी लम्बी-चौड़ी और खूब ऊँची, पुरानी-सी इमारत खड़ी थी जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था ‘विट्ठलबाग’। शान्ति खिलखिलाकर हँस रही थी।

“आओ चलें,” बकुल ने उसका हाथ पकड़कर कहा। “पाँच बजे का निमंत्रण था और साढ़े पाँच बज गए। गाली देगा मधुकर।”

चाल के बाहर कुछ बच्चे गोली खेल रहे थे और बाजू में म्युनिसिपैलिटी के मेहतर चाल से बटोरा हुआ कूड़ा-करकट, कचरा ढोने की भारी भरकम ट्रक में ठूस रहे थे। बच्चों से मधुकर के बारे में बकुल पूछना ही चाहता था कि उसे ऊपर से बाजे की आवाज़ सुनाई दी। शहनाई और नगाड़े बज रहे थे

“सुनी तुमने ? बाजे की आवाज़ सुनी ?” बकुल ने शान्ति से पूछा।

शान्ति मुस्कुरा दी।

गंदा जीना चढ़ते हुए दोनों ऊपर जाने लगे। दूसरी मंजिल पर शहनाई बज रही थी जहाँ सीढ़ियों के पास ही और छज्जे पर लोग जमा हुए थे।

“बापरे ! कितने सारे लोगों को बुलाया है ! और यहाँ तो सब आदमी ही आदमी हैं। मुझे शरम आती है,” शान्ति ने कहा।

“स्त्रियाँ अन्दर होंगी। तुम जाओ, अन्दर जाओ,” बकुल बोला।

शान्ति, लोगों के बीच से होती हुई, अन्दर चली गई। बकुल बाहर खड़ा-खड़ा मधुकर को या और किसी जान-पहचान वालों को ढूँढ़ने लगा। उसे मुंहदिखाई के कार्य का यह ढंग बड़ा विचित्र लगा। बाजा भी कम्बरुत इस मनहूसियत से बजाया जा रहा था कि बुरा लग रहा था। शहनाई और नगाड़ा भोपाल में बकुल की शादी पर भी तो बजे थे। मगर कितनी चटकदार थी वह धुन। और आज यह बम्बई

की शहनाई बज रही थी ! जैसे बजानेवाले का दम निकला जा रहा हो। और नगाड़ा तो बिलकुल ठंडा था और—और इन आदमियों के चेहरे क्यों लटके हुए हैं ? सब के सब नंगे सर खड़े हैं!.....

अन्दर कमरे में पहुँचकर शान्ति ने देखा कमरा स्त्रियों से खचाखच भरा है। कमरे के बीच शायद दुलहन बैठी थी। सब की सब उसका मुँह देखने के लिए, उस तक पहुँचने के लिए उतावली हो रही थीं। शान्ति धीरे-धीरे जगह बनाती हुई आगे बढ़ी और सामनेवाली बुढ़िया को हटाकर जो देखा तो फ़र्श पर एक मुर्दा अकड़ा हुआ पड़ा था। शान्ति चीख पड़ी। सब स्त्रियाँ उसे घूरने लगीं। शान्ति पलटी और कमरे से बाहर की ओर भाग निकली। दरवाज़े के बाहर ही, उसकी प्रतीक्षा करता हुआ, बकुल खड़ा था। शान्ति लड़खड़ाकर गिरने ही वाली थी पर बकुल के सबल हाथों ने उसे थाम लिया। सब लोग उन्हें आँख फाड़-फाड़कर घूर रहे थे।

“आओ, ऊपर चलो,” बकुल ने कहा। “बड़ी ग़लती हो गई आज। बाजा धोखा दे गया।” सहमी हुई शान्ति ने बकुल की ओर देखा, उसकी आँखों में देखा। बकुल ने उसके हाथ को प्यार से दबाकर कहा : “मधुकर ऊपर रहता है।”

दोनों जनों फिर सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। शान्ति की आँखों के सामने अकड़ा हुआ वह मुर्दा ही भूल रहा था। अजीब है यह बम्बई ! शादी में आए थे, मैरयत में पहुँच गए !

तीसरी मंज़िल पर आकर बकुल और शान्ति ने देखा यहाँ भी शहनाई और नगाड़े बज रहे हैं। बालकनी में स्त्री,

पुरुष और बच्चे हँस-बोल रहे हैं। यह थी शादी की शहनाई। नगाड़े शादी के नगाड़े थे। दरवाजे के पास ही खड़े हुए मधुकर की दृष्टि इन दोनों पर पड़ी और वह लपककर आया।

“यह क्या, बकुल !” उसने आते ही शिकायत की। शादी पर तुम लोग पूना नहीं आए ! और आज यहाँ मुँहदिखाई पर आए भी हो तो इतनी देर करके !”

“क्या बताएँ, मधुकर—” बकुल कोई बहाना करने लगा था कि मधुकर फिर बोल पड़ा :

“कुछ न बताओ। खैर, अच्छा हुआ, हमारे लड्डू बचे।” फिर शान्ति की ओर देखकर आँखें मटकाता हुआ बोला : “अहा, भाभी, क्या लग रही हो ! सच कहता हूँ अगर बकुल से पहले तुम पर मेरी निगाह पड़ी होती न, तो जानती हो क्या होता ?”

और कोई समय होता तो इस मजाक का आधा या तिहाई मजाक भी शान्ति को खिलखिलाकर हँसा देने के लिए काफी था, मगर आज, इस समय, शान्ति खिलखिलाकर हँस न सकी। चुप हँसी भी न हँस सकी। अपनी तमाम चेतन शक्ति को बटोरकर उसने मधुकर को नमस्कार किया और कहा :

“शादी मुबारक हो, मधुकर भाई !”

पहली फुहार

आज सुबह से ही बड़ी उमस थी। वैसे तो बम्बई में हर रोज़ ही गरम-गरम-सा रहता है, हवा में भाप-सी मिली रहती है और बदन गीला गीला-सा रहता है; और इसीलिए कभी खुलकर भूख नहीं लगती, पेट भरा-भरा-सा रहता है, तबीअत सुस्त-सी रहती है। नवम्बर, दिसम्बर और जनवरी के तीन महीने छोड़कर गरम कपड़े पहनने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती और ठंड के इन तीन महीनों में भी गरम कपड़ों का मज़ा सिर्फ़ सुबह, शाम और रात को आता है, दिन को नहीं। दिन को वही गीली गरमी और भाप मिला वातावरण होता है। पर आज का दिन विशेष गरम था। बंद-बंद-सा था।

सर के ऊपर पंखा चल रहा था, पर फिर भी महेंद्र का दम घुटा जा रहा था। उसकी कैबिन लकड़ी की थी और चारों ओर शीशे लगे हुए थे जिनमें से कैबिन के बाहर काम करते हुए मज़दूरों पर महेंद्र निगरानी रखा करता था। इन्हीं शीशे की दीवारों में से पसीने से तर मज़दूरों को मई की इस उमस में गरम गरम चाय पीते देखा तो वह सोचने लगा बम्बईवाले ज़रूर पागल हैं। इस गरमी में तीसरे पहर चाय पी रहे हैं। दिल्ली में, कानपुर में कोई भला आदमी गरमी की दोपहर को गरम चाय नहीं पीता। गरमी में दोपहर का पेय है शरबत या लस्सी। विशेषकर दही की ख़ूब फेंटी हुई भागदार नमकीन

लस्सी महेन्द्र को बड़ी पसंद थी। जब वह दिल्ली में था या कानपुर में था तो तीन-तीन ग्लास पी जाता था, होटल के मोटे मोटे शीशेवाले अष्टकोनी बड़े ग्लास। पर बम्बई में ढंग ही कुछ अजीब है। सुबह चाय, दोपहर को चाय, शाम को चाय। और चाय भी अगर चाय की तरह हो तो गनीमत है पर उबाल उबाल कर औटाई हुई ईरानी होटलों की यह चाय तो जहर थी। और बम्बईवाले डालंडा में पकाया हुआ खाना खाकर यही जहर पीया करते हैं, तभी तो यहाँ के लोग जीते-जागते मुर्दों की तरह दीखते हैं।

महेन्द्र को बम्बई आए एक महीना होने आया था। पर अभी तक बम्बई उसे रास न आया। यहाँ वालों का खाना, यहाँ की चाय और यहाँ की आबोहवा उसे बिलकुल न भायी थी। वैसे बम्बई बड़ा अच्छा लगा था। क्या शानदार शहर था यह बम्बई! क्या सड़कें, क्या इमारतें और क्या रोशनी! हर रात दीवाली थी बम्बई में! प्लास्टिक के कारखाने में वह असिस्टेंट मैनेजर की हैसियत से काम कर रहा था। उसे अपना यह नया काम पसंद था। पर यह उमस! महेन्द्र का दम घुटा जा रहा था। जेब से रुमाल निकालकर वह पसीना पोंछने लगा तो बाहर एकदम अँधेरा हो आया। आज सुबह से ही बदली-बदली हो रही थी। और अभी-अभी एक बड़ा ही भारी बादल आकाश के ऐन बीचोबीच आकर अड़ गया और एकदम अँधेरा छा गया। उमस और भी अधिक, एकदम ही बढ़ गई और तभी मेज़ पर रखे हुए टेलीफ़ोन की घंटी बज उठी। महेन्द्र ने रिसीवर उठाया।

“महेंद्र सिंग बोल रहा हूँ... जी? ...हलो! पुरी साहब! कैसे हैं आप? जी? कुछ नहीं, दफ़्तर में बैठा बैठा पसीना पोंछ रहा था। इस उमस ने तो बेज़ार कर रखा है मुझे!”

“बाहर निकलकर ज़रा आसमान की तरफ़ तो देखो,” टेलीफ़ोन के अन्दर पुरी ने कहा। “मुझे तो लगता है ऊपरवाला यह काला बादल फटने ही वाला है। बारिश हुई तो मज़ा आ जाएगा।”

“बारिश तो जून में शुरू होगी, अभी कैसे? आज तो मई की २९ तारीख है।”

“यार, मुझे तो लगता है आज ही बारिश होने वाली है। वक़्त से अगर दो हफ़्ते बाद हो सकती है बारिश तो किसी साल एक हफ़्ते पहले भी तो हो सकती है।”

“मेरी तो जान निकली जा रही है इस गरमी में। बारिश होगी तो जान में जान आएगी।”

“सुनो, महेंद्र। यार, मैंने तुम्हें इसलिए फ़ोन किया कि ऊपरवाले इस काले बादल पर ज़रा नज़र रखना। दफ़्तर से मैं अब घर जा रहा हूँ। अगर यह बादल फटा तो शाम को तुम मेरे घर आ रहे हो। पटेल और बागची को भी फ़ोन कर दिया है मैंने।”

“क्यों, क्या बात है?” महेंद्र ने पूछा।

“साथ बैठकर बरसात की पहली फुहार मनाएँगे। क्या बात है? यह शोर काहे का है तुम्हारे कमरे में?”

महेंद्र ने रिसीवर कान से अलग किया। ऊपर टीन पर तड़ातड़ बूंदें पड़ रही थीं।

“बूंदें पड़ रही हैं!” महेंद्र ने उत्तेजित हो कहा।
“बारिश शुरू हो गई!”

“ओह! हाँ, मेरे दफ़्तर के सामने भी रिमफ़िम हो रही है। यार, ज़ाम आ गया। तो शाम को हो जाय बैठक मेरे फ़्लैट पर। आठ बजे। अच्छा?”

“अच्छा,” महेंद्र ने कहा।

और फिर दोनों टेलीफ़ोन बंद हो गए।

टीन के छपरे पर बूँदाबाँदी हो रही थी वह तेज़ हो गई। देखते ही देखते वातावरण में हलचल पैदा हुई, हवा चलने लगी और वह बूँदाबाँदी बौछारवाली बरसात में तबदील हो गई। एकदम घटाटोप अँधेरा छा गया और प्लास्टिक कारख़ाने के बाहर, आँगन और सड़क पर रेलपेल पानी बहा जाने लगा, और एकदम ठंडा हो गया। आज पहली बार महेंद्र की तबीअत हुई कि एक कप गरम-गरम चाय मँगाकर पी जाय। पर उसने मँगाई नहीं। थोड़ी ही देर बाद चाय से भी अधिक गरम चीज़ पुरी साहब के यहाँ उसके सामने आनेवाली थी। ।

पुरी से उसकी मुलाक़ात दो हफ़्ते पहले महालक्ष्मी रेस-कोर्स पर अचानक हुई थी। चर्चगेट पर बिल्डिंग कॉन्ट्रेक्टर की एक फ़र्म में पुरी चीफ़ इंजीनियर था। बड़ी फक्कड़ तबीअत का आदमी था—यह पुरी। महेंद्र एक बार दोपहर को उसके घर खाना भी खा चुका था। मिसेज़ पुरी खाना बड़ा स्वादिष्ट बनाती थी। उनके यहाँ के सीखकबाब महेंद्र को कभी न

भूलेंगे। खाने का और खिलाने का पुरी को बड़ा शौक था। महेंद्र की आँखों के सामने तंदूरी रोटी, चिकन रोस्ट, बिरयानी और सीखकबाब की प्लेटें नाचने लगीं और उसके मुँह में पानी भर आने लगा।

शाम को महेंद्र जब शिवाजी पार्क पर अपने घर पहुँचा तो पानी थम गया था।

“रात को क्या खाओगे?” महेंद्र की स्त्री ने पूछा।
“पानी थम गया है; जल्दी से नौकर को भेजकर बाज़ार से सब्जी मँगा लूँ।”

“रात को हमारा खाना पुरी साहब के घर है,” महेंद्र ने कहा। “तुम जल्दी से तैयार हो जाओ।”

जब महेंद्र और अमृता की मोटर वरली पहुँची तो फिर से बूँदाबाँदी शुरू हो गई। तपी हुई धरती इतना पानी पी जाने पर भी प्यासी की प्यासी ही रह गई थी। इतना पानी न जाने कहाँ धँस गया था। धरती पर बूँदें पड़ते ही लुप्त हो जाती थीं। बिजली के प्रकाश में काली-काली गीली सड़क बिल्लौरी काँच की तरह चमचमा रही थी और हर ओर मिट्टी की वह सुगन्ध फैल रही थी जो बरसात की पहली फुहार में ही नसीब होती है।

“पुरी साहब के यहाँ तुम दूसरी बार जा रहे हो खाने के लिए,” अमृता ने कहा।

“हाँ, दूसरी बार,” महेंद्र बोला, “मगर तुम आज पहली बार जा रही हो।”

“और हमने उन्हें एक बार भी नहीं बुलाया।”

“बड़े शरारती हैं,” वह बोला। “लाओ, अमृता, मुझे अपना हाथ दो। मेरा हाथ पकड़कर चढ़ो।”

महेन्द्र ने अँधेरे में हाथ बढ़ाया। हाथ में हाथ आ लगा। दस-बारह सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद अचानक उसे ठोकर लगी और हाथ से हाथ छूट गया और वह गिरते-गिरते बचा।

“गिरोगे, सँभलना!” अँधेरे में, दूर नीचे से, अमृता की आवाज़ आई। “माचिस तो है तुम्हारे पास। जलाते क्यों नहीं?”

महेन्द्र हँस पड़ा; जेब से माचिस निकालकर जलाने लगा। सलाई जलते ही बुझ गई। दूसरी सलाई जलाई; वह भी बुझ गई। आधी माचिस ख़तम हो गई पर कोई सलाई न जली।

“हवा है,” उसने कहा।

“कहाँ है हवा? तुम्हारी माचिस ठंडी है,” अमृता बोली। सहसा जीने के ऊपरवाला बल्ब जगमगा उठा।

“आ गया लाइट!” अमृता ने खुश होकर कहा।

महेन्द्र हँसने लगा।

“पुरी साहब की शरारत है,” वह बोला, फिर सहसा स्त्री को दूर, इतने नीचे, देखकर विस्मित हो उसने कहा : “क्यों, तुम नीचे क्यों उतर गई?”

“मैं कहाँ नीचे उतरी? तुम्हीं अँधेरे में मुझे छोड़कर तड़ तड़ ऊपर चढ़े चले गए। मैं कहीं गिर जाती तो?”

“गिर कैसे जाती? तुम तो मेरा हाथ थामे हुए थीं। मैं तो तुम्हारा हाथ लेकर ऊपर गया था।”

“अब बनाओ मत मुझे,” वह मुस्कुराकर बोली।

“अच्छा, तो मैं बना रहा हूँ तुम्हें !” महेंद्र ने भी मुस्कुराकर कहा। “अच्छा, आओ, चली आओ।”

सीढ़ियाँ चढ़कर अमृता पति के पास जा पहुँची। महेंद्र खड़ा मुस्कुरा रहा था। स्त्री की नाक को दो उँगलियों के बीच दबाकर उसने हिलाया।

“बड़ी चंट हो,” वह बोला।

अमृता को मजाक समझ में न आया। खड़ी वह देखती रही, फिर पति का हाथ लेकर सूँघने लगी।

“क्या सूँघ रही हो?” महेंद्र ने साश्चर्य पूछा।

“तुमने हाथ में यह कौन-सा सेंट लगा रखा है?”

“महेंद्र ने अपना हाथ सूँघा। विचित्र प्रकार की सुगंध थी हथेली और उँगलियों में। उसने अमृता का हाथ लेकर सूँघा, उसका दूसरा हाथ भी सूँघा। उनमें सुगंध न थी। अपना दूसरा हाथ सूँघा। उसमें भी सुगंध न थी। सुगंध केवल उसी हाथ में थी जिससे उसने अँधेरे में स्त्री को हाथ पकड़कर ऊपर तक लाया था।

महेंद्र हँसने लगा। पर उसका दिल ज़ोरों से धड़क रहा था।

“पता नहीं कहाँ से चिपट गई यह सुगंध मेरे हाथ में,” उसने कहा और ऊपर पहुँचकर दरवाज़े पर की बटन ज़ोरों से दबाई।

नौकर ने दरवाज़ा खोला। अंदर, सामने ही, बरामदे में महफ़िल जमी हुई थी। पुरी साहब उठकर आए और बड़े तपाक से महेंद्र और अमृता को अंदर ले गए। नौकर ने दरवाज़ा बंद कर दिया।

पटेल और मैसेज पटेल को देखकर महेंद्र चकराया।

“आपकी गाड़ी तो मैंने बाहर नहीं देखी,” वह बोला।

“पेड़ के नीचे रखी तो है,” पटेल ने उत्तर दिया।

“छोकरा,” पुरी ने आवाज दी।

चालीस बरस का, बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला, एक नौकर सफ़ेद वरदी पहने उपस्थित हुआ।

“दो ग्लास और लाओ,” पुरी ने कहा।

नौकर चला गया।

“आपका वह गढ़वाली नौकर कहाँ गया?” महेंद्र ने पूछा।

“कौन तेजसिंह? अरे, वह तो चल दिया। घर गया है अपने,” पुरी ने कहा।

“बड़ा अच्छा था वह,” मैसेज बागची ने कहा।

“जी हाँ, वह तो अच्छा था। बुरे तो बस हम ही हैं,” पुरी ने नाटकीय तौर पर कहा।

“जी नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था, पुरी साहब,” वह बोली।

पुरी और मैसेज पुरी हँस पड़े। पुरी ने अपनीवाली बेंत की आराम कुरसी अमृता के पीछे सरका दी।

“बैठिए,” उन्होंने कहा। “बैठो, यार, तुम भी बैठो।” अमृता और महेंद्र बैठ गए। बागची और पाठक एक दूसरे की ओर देखकर मुस्कराए।

“क्या बात है?” महेंद्र ने पूछा।

“कुछ नहीं, यूँही,” पाठक बोला।

“तेजसिंह की बात थी,” बागची ने कहा।

“क्या बात है?” महेंद्र ने पूछा।

“कुछ नहीं, यूँही,” बागची ने कहा और फिर मुस्कुराने लगा। “पुरी साहब के नौकर इनके घर पर ज़्यादा दिन नहीं ठहरते।”

बागची की स्त्री, पाठक और पाठक की स्त्री भी मुस्कुराने लगी। उनकी मुस्कुराहट में रहस्य था। महेंद्र और अमृता ने मिसेज पुरी की ओर देखा। वह मेज़ पर रखी हुई तश्तरी में आलू और प्याज़ के गरमागरम पकौड़े डाल रही थी। चेहरा भावरहित था। पुरी साहब नीचे निगाह किए एक ग्लास में ह्विस्की उँडेल रहे थे। मूँछोंवाला नौकर कोकाकोला की शीशी खोल रहा था।

“क्या बात है, पुरी साहब?” महेंद्र ने पूछा। पुरी साहब ने कोकाकोला का ग्लास अमृता को दिया और ह्विस्की का ग्लास वह महेंद्र को थमाते हुए बोले: “कुछ नहीं, यार। बकवास कर रहे हैं यह लोग। आओ, पियो।” फिर अपना ग्लास ऊपर उठाकर बरसते हुए पानी की ओर इशारा करके बोले: “पहली फुहार को!”

और तब सब ने अपने-अपने ग्लास आपस में मिलाकर कहा: “पहली फुहार को!”

“मज़ा आ गया!” ह्विस्की की चुसकी लेते हुए पुरी साहब ने कहा। “पीने का मज़ा तो बरसते पानी में ही है। क्या बात है, महेंद्र, तुम रह-रहकर अपना हाथ क्यों सूँघ रहे हो?”

“नहीं तो,” वह बोला।

“भाई साहब, आप हैं बड़े शरारती !” अमृता ने कहा ।

“क्यों, जी ? मैंने क्या किया ?” पुरी ने कहा

“हम लोग जीना चढ़ रहे थे और आपने लाइट बुझा दिया ।
कहीं मैं गिर गई होती तो ?”

मिसेज़ पुरी ने पुरी की ओर देखा ।

“मैंने लाइट बुझा दिया ? मैं तो यहाँ बैठा हूँ ।”

“ऐसे बन रहे हैं जैसे आपकी पता ही नहीं । पर मैं तो
फ़ौरन ताड़ गई कि हो न हो यह शरारत पुरी साहब की
ही है ।”

मिसेज़ पाठक के हाथ से कोकाकोला का ग्लास छूटकर
चटाख-से फ़र्श पर गिर पड़ा और गिरते ही फूट गया । मिसेज़
बागची सहमकर अपने पति के पास खिसक आई ।

“चुड़ैल कहीं की ! नाक में दम कर रखा है !” बोलती
हुई मिसेज़ पुरी अंदर चली गई ।

बागची और पटेल मुस्कुरा रहे थे । पुरी साहब ने अपना
सिगार निकाला और सुलगाने लगे । एकदम चुप्पी थी । ड्राइंग
रूम के अंदर रेडिओ बज रहा था और बच्चे खेल रहे थे ।
पुरी साहब ने अपना फ़्लैट बड़ा अच्छा सजा रखा था । अंदर
से फ़्लैट उतना ही आधुनिक था जितना कि वह मकान बाहर
से पुराना था ।

“चुप्पी भंग करते हुए बागची ने कहा : “आपकी छोटी
लड़की नहीं दिखाई दी, पुरी साहब ?”

‘सो गई शायद । अरे राजेन्द्र—” उन्होंने पुकारा ।

“जी डैडी,” अंदर से उनके तेरह साल के बड़े लड़के ने

आवाज़ दी।

“बिल्लो सो गई क्या?”

“जी हाँ, डैडी।”

“सो गई,” पुरी ने कहा। “अहा! क्या बारिश हो रही है!”

उन्होंने कनखियों से देखा महेंद्र हाथ सूँघ रहा था। अचानक दोनों की आँखें चार हुईं। पुरी साहब मुस्कुराए, उन्हें देख महेंद्र भी मुस्कुराया। उन्हें मुस्कुराते देख बागची और पटेल भी मुस्कुराने लगे। मिसेज़ बागची और मिसेज़ पटेल सहमी हुईं चुपचाप थीं। इन सबको विस्मित आँखों से अमृता देख रही थी। उसने सोचा आज इन लोगों को बड़ी जल्दी चढ़ गई। और तब महेंद्र ने कहा:

“कुछ बोलिएगा नहीं?”

“क्या बोलूँ?” पुरी ने उत्तर दिया।

“कौन थी वह?”

“कौन?”

“जिसने जीने का लाइट बंद किया और अँधेरे में जिसका हाथ लेकर मैं ऊपर चढ़ा।”

“यह तुम्हें क्या हो गया है?” अमृता ने पति से कहा। “तुम कैसी बातें कर रहे हो।”

महेन्द्र ने बागची और पटेल की ओर देखा। वह मुस्कुरा रहे थे। उनकी पत्नियाँ सहमी हुईं उनसे चिमटी जा रही थीं। सीखकबाब की तश्तरी लिए मिसेज़ पुरी बाहर आई।

“बताइए न, पुरी साहब,” महेन्द्र ने आग्रह किया।

“क्या बताऊँ ?” वह बोले।

“कौन थी वह ?”

“है कोई बेचारी——”

“बेचारी न और भी कुछ,” मिसेज पुरी ने त्योरी चढ़ाकर कहा। “न जाने क्यों हाथ धोके पीछे पड़ी है बेशरम।”

पुरी ने कुछ न कहा। चुप बैठे चुसकियाँ लेने लगे।

“कौन है वह, मिसेज पुरी ?” महेन्द्र ने पूछा।

“इन्हीं से पूछिए। यही बताएँगे।”

“छोड़ो भी, यार, इन बातों को,” पुरी साहब बोले।

“आओ, रमी खेलें। खाने में तो अभी देर है न ?”

“खाना दस बजे दूँगी,” मिसेज पुरी ने कहा।

“ठीक है, ठीक है; आइए खेलें।”

पुरी साहब ने मेज पर से ताश की गड्डी उठाई और इस तरह फेंटने लगे मानो हाथ-सफ़ाई का कोई खेल दिखाने चले हैं। उनकी आँख बचाकर अमृता ने चुपके-से अपनी कुरसी महेन्द्र के पास सरका ली और उससे सटकर बैठने लगी पर तभी पुरी ने उसे सम्बोधन करके कहा : “घबराइए नहीं। लीजिए, ताश काटिए।”

“जी मैं नहीं खेलूँगी।”

“और आप, मिसेज बागची ?”

“मैं भी नहीं।”

“और आपको तो खेलना ही नहीं आता, मिसेज पटेल।
चलिए तो फिर हमीं लोग खेलें। सच पूछिए तो यह खेल है भी

मर्दों का।” उन्होंने हाथ बढ़ाया। महेंद्र ने पत्ते काटे।

“कौनसा खेल?” मिसेज पुरी ने पूछा।

“यही—ताश का खेल,” पुरी ने मुस्कराकर कहा, और फिर वह पत्ते बाँटने लगे।

मर्द लोग बड़ी देर से ताश खेले जा रहे थे। उनकी स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों से चिमटी जा रही थीं। मिसेज पुरी मेहमानों को खिलाने-पिलाने में व्यस्त थीं। और पानी लगातार बरस रहा था। हलका-सा तूफ़ान था। पानी से अधिक हवा की मार थी। बरामदे के खम्भों और दरवाजों, खिड़कियों में तीव्र गति से धँसती हुई हवा विचित्र-विचित्र आवाजें पैदा कर रही थी। बाहर के दरवाजे की दरार में हवा सूँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ, सीं-ईं-ईं-ईं बोल रही थी और कभी-कभी नीचे वाले फ्लैट के पट फड़ाफड़ बज उठते थे.... और अमृता का कलेजा काँप रहा था। मिसेज बागची और मिसेज पटेल के दिल धड़क रहे थे।

और तभी मिसेज पुरी ने आकर कहा : “खाना तैयार है। अब खेल बन्द कीजिए।”

डाइनिंग-रूम प्रकाश से चकाचक था। खुले बरामदे के बाद यह बंद डाइनिंग-रूम अमृता को अच्छा लगा। यहाँ पर स्त्रियाँ सुरक्षित थीं। सामने टेबल पर मिसेज पुरी के पकवान सजे हुए थे। बड़ा स्वादिष्ट खाना था। बागची ने खूब खाया। उसे चढ़ भी ज्यादा गई थी। वैसे भी वह खानेवालों में से था और उसका पेट भी उसी हिसाब से था। जब वह हँसता तो मिनटों उसका पेट थलथल हिलता रहता।

बातें करने में पुरी साहब की जोड़ मुश्किल से मिलेगी। डाइनिंग-रूम में उनकी गप्पें सुनकर कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता कि यह लनतरानी हाँकनेवाले पुरी साहब किसी बिल्डिंग कॉन्ट्रैक्टर कम्पनी के जिम्मेदार इंजीनियर होंगे। जो भी विषय छिड़ता पुरी साहब उस पर बहुत-कुछ कहते और इस ढंग से कहते कि हँसा-हँसा देते। खुद भी हँसते, बड़े जोर-जोर से हँसते। मगर हँसने में बागची उनसे बाजी मार ले जाता, पास बागची का भाते की तरह बड़ा पेट न था। पुरी साहब में क्योंकि उनके विशेष गुण यह था कि उनसे मिलनेवाला पहली ही मुलाकात में उनका हो जाता था। उसे ऐसा लगने लगता था कि पुरी साहब उसके सगे-संबंधी हैं, जिसे वह सदा से जानता है। मज़ाक और छेड़छाड़ में भी वह हद करते थे। मैसेज बागची और मैसेज पटेल और अमृता के मनोरंजन के लिए वह अकेले ही काफ़ी थे। मैसेज बागची से जब वह बँगला बोलने का प्रयत्न करने लगे और मैसेज पटेल से गुजराती तो हँसते हँसते पेट में बल पड़ गए। मैसेज पुरी, जो अब तक गम्भीर थी, खाने के टेबल पर पुरी साहब की बातें सुन-सुन, खदखद हँसने लगी। इतना हँसी, इतना हँसी कि उसकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह निकलीं और बागची का पेट सारा टेबल हिला उठा।

“भई, मज़ा आ गया आज तो,” बागची ने डाइनिंग-रूम से बाहर आते हुए कहा। “यह पहली फुहार याद रहेगी हमें। अगले हफ़्ते, शनीचर की रात, सब का खाना मेरे यहाँ।”

“नहीं, अगला खाना मेरे यहाँ होगा,” महेंद्र ने कहा।

“आप लोग अभी तक मेरे यहाँ नहीं आए। क्यों, पुरी साहब ?”

पुरी साहब अपना सिगार सुलगा रहे थे।

“अच्छी बात है। आपही के यहाँ सही। क्या फर्क पड़ता है।”

“तो, बागची, तय रहा मेरे यहाँ का,” महेंद्र ने कहा।

“पटेल तुम भी। भाभियाँ तो आएँगी ही।”

“अगर आप हमें अलग से नहीं कहेंगे तो हम न आएँगी,”
मिसेज़ पुरी ने मज़ाक़ किया।

सब जने हँस पड़े।

“तो मैं कहती हूँ आपको—” अमृता बोली, “और आपको भी मिसेज़ पटेल—और आप भी मिसेज़ बागची—अगले शनीचर की रात आप लोग हमारे घर आने की कृपा करें।”

“आने की या खाने की ?” पुरी ने मज़ाक़ किया।

और तब सब लोग फिर हँस पड़े। बागची का पेट उस रात आखिरी बार हिला था क्योंकि उसके बाद सबने बिदा ली और बरामदे के बाहर जीने पर निकल आए।

जीने पर पहुँचते ही अमृता सिहर उठी। मिसेज़ बागची और मिसेज़ पटेल ने अपने-अपने पतियों के हाथ का सहारा लिया और अमृता ने महेंद्र के हाथ का। जीने पर बल्ब जगमगा रहा था। सब जने सँभल सँभल कर जीना उतर रहे थे पर उनकी दृष्टि ऊपर लटकते हुए बल्ब पर जमी हुई थी जो हवा में दीवार-घड़ी के लटकन की तरह डोल रहा था। बल्ब भक-भक करने लगा और ऐसे लगा कि अब बंद हुआ और अब बंद हुआ, मगर बल्ब बंद न हुआ, केवल भक-भक ही करता रहा

और मंडली नीचे उतरकर पोर्च में पहुँच गई। स्त्रियों ने संतोष की साँस ली। मर्दों का हाल वही जानें, पर महेंद्र बोल ही उठा :

“क्या बात है, बागची साहब ? आप जानते हैं। बताइए न ?”

“किसी का फेर है इस घर में,” बागची ने कहा। “पटेल को मालूम है। पुरी साहब के तमाम दोस्तों को मालूम है यह बात। आपको भी बताएँगे किसी दिन। अगले शनीचर को तो मिल ही रहे हैं आपके घर पर हम लोग।”

“अच्छा, हम लोग चलें,” पटेल ने कहा। “हमें कोलाबा जाना है।”

सबसे बिदा लेकर पटेल अपनी पत्नी के साथ अपनी गाड़ी में बैठ चला गया।

“आप तो बाँदरा जाएँगे, बागची साहब ?” महेंद्र ने कहा।

“जी।”

“तो चलिए न, हमारे साथ चलिए। आपकी गाड़ी आपका ड्राइवर ले आएगा पीछे-पीछे।”

“हाँ, साथ ही चलें शिवाजी पार्क तक,” अमृता बोली।

“अच्छा, चलिए—साथ ही चलें,” बागची ने कहा और पत्नी के साथ महेंद्र की मोटर में आ बैठा। “तुम मोटर पीछे पीछे ले आओ,” उसने ड्राइवर से कहा।

दोनों मोटरें, एक के पीछे एक, चल पड़ीं।

अब पानी थम गया था। महेंद्र मोटर धीरे-धीरे लिए जा रहा था।

“किसका फेर है पुरी साहब के घर?” सहसा उसने पूछा। बगल में बैठा हुआ बागची मुस्कुराया। वह जानता था रहस्य जानने के लिए महेंद्र उतावला हो उठा था और इसी-लिए उसे अपनी गाड़ी में लिए जा रहा था।

“एक लड़की है,” बागची ने कहा। “परेशान कर रखा है बेचारे पुरी को।”

“पुरी साहब से ज्यादा मैसेज पुरी परेशान हैं” बागची की पत्नी ने कहा।

“लड़की ज़िंदा है?” अमृता ने पूछा।

“उसे मरे हुए ग्यारह साल हो गए। उसी की प्रेतात्मा है,” बागची ने कहा। “अजीब-अजीब करिश्मे करती है। आपके साथ क्या हुआ था आज?”

“हम लोग जीना चढ़ रहे थे कि अचानक लाइट बुझ गया। मैंने अमृता से अपना हाथ मुझे पकड़ाने को कहा ताकि हम दोनों साथ-साथ ऊपर चढ़ें। अँधेरे में जब मेरे हाथ में हाथ आकर लगा तो मैं समझा अमृता का हाथ है। हाथ में हाथ लेकर मैं ऊपर चढ़ने लगा। दो-एक सीढ़ियाँ बाक़ी रह गई थीं कि मुझे ठोकर लगी और मैं लड़खड़ाया। हमारे हाथ अलग हो गए। इतने में बड़ी दूर से—दस-बारह सीढ़ियाँ नीचे से—अमृता की आवाज़ आई। यह मुझसे माचिस जलाने को कह रही थी। मैंने माचिस जलाने की बहुतेरी कोशिश की पर एक सलाई न जली। अचानक भक से बल्ब फिर जल उठा और जीने पर लाइट हो गया। मैं क्या देखता हूँ कि अमृता जीने पर बहुत नीचे खड़ी हुई है। यानी बेचारी मेरे हाथ का इंतज़ार ही करती

खड़ी रह गई और मैं किसी और का हाथ लिए ऊपर चढ़ गया। मैं आपसे क्या बताऊँ जो उस वक़्त मेरी हालत हुई। देखिए— मेरे हाथ से अब तक खुशबू आ रही है।”

महेन्द्र ने बागची को हाथ सुँघाया।

“नहीं तो। मुझे तो कोई खुशबू नहीं आ रही।”

महेन्द्र ने स्वयं हाथ सूँघा। हाथ में सुगंध न थी।

“अजीब बात है,” वह बोला। अभी तक तो हाथ से खुशबू आ रही थी। तुमने तो सूँघी थी खुशबू, क्यों अमृता?”

“हाँ, हाँ। मैंने ही तो तुमसे पूछा था कि हाथ में यह नया सेंट कब लगा लिया,” अमृत ने कहा।

“बस ऐसे ही छल करती है। उस जीनेवाले बल्ब का फ़्यूज़ होना तो रोज़मर्रा की बात हो गई है। मेरे साथ भी ऐसा दो-एक बार हुआ है, मगर उसने मेरा हाथ कभी नहीं पकड़ा।”

“उसके छल तो मिसेज़ पुरी से सुनिए आप,” मिसेज़ बागची बोली। “एक दफ़ा, आज की तरह ही, उनके यहाँ पार्टी थी। शाम का वक़्त था। रसोइया उस दिन बीमार था, सो मिसेज़ पुरी खुद खाना बना रही थीं। शाम का वक़्त रहा होगा। वह कह रही थीं: ‘मैं सीखकबाब बना रही थी—क्रीमा सीख पर थोपकर कोयलों पर भूनती जा रही थी और भूनी हुई सीखें एक और पीढ़ी से टिका-टिकाकर रखती जा रही थी। अचानक क्या देखती हूँ कि तीन सीखें जो तैयार की थीं ग़ायब हैं।’ वह कहती हैं: ‘मैं बड़ी चकराई। हाथ की सीख पीढ़ी पर टिकाकर मैं फिर अपने काम में जुट ही रही थी कि पीढ़ी से टिकी हुई सीख चली बाहर को। ऐसे सरकने

लगी मानो कोई किसी अदृश्य तार से बाँधकर उसे खींच रहा हो।' फिर क्या था ! कहती हैं: 'मैंने चुनचुनकर वह गालियाँ दीं और चूल्हे की जलती हुई लकड़ी लेकर दौड़ी तो सीख का सरकना बंद हो गया। रसोईघर के बाहर दरवाजे की आड़ में, बाक्री की तीन सीखें पड़ी हुई थीं।' अब बताइए, मिसेज़ सिंग, क्या कहेंगी आप इसे ?”

“बापरे !” अमृता ने सहमकर कहा। “मुझे तो डर लगता है उनके घर जाते अब।”

“यह तो कुछ भी नहीं,” बागची बोला। “पुरी साहब कह रहे थे—एक रोज़ रात को उनके हारे घर आए। बरामदे में बैठकर उन्होंने ह्विस्की खोली और नौकर से सोडा खोलने को कहा। तेजसिंह था नौकर। तेजसिंह ओपनर ढूँढ़ने लगा। उसे ओपनर ही नहीं मिल रहा था। हाथ में ह्विस्की का ग्लास लिए पुरी साहब तेजसिंह का इंतज़ार कर रहे थे कि सामने टेबल पर रखी हुई सोडा की बोतल का काग फट से उड़ा और बोतल से सोडे की झाग उड़ने लगी।”

“पुरी साहब तो घबरा गए होंगे,” अमृता ने पूछा।

“नहीं, बिल्कुल नहीं। उन्हें नहीं डर लगता। उन्होंने इतमीनान से ग्लास में सोडा उँडोला और पीने लगे। उन्हें नहीं तंग करती वह। न बच्चों को तंग करती है। सताती तो है वह मिसेज़ पुरी को। उनके नाक में उसने दम कर रखा है। नौकरों को भी काफ़ी परेशान करती है। तभी पुरी साहब के घर कोई नौकर ज़्यादा दिन नहीं ठहर पाता।”

“सुना है ओम्हा लोगों के पास भूत भगाने का मंत्र होता

है। किसी ओझा को बुलाकर घर क्यों नहीं बँधवा लेते ?” महेंद्र ने कहा।

“कितने ही ओझाओं को बुलाया पर कुछ न हुआ। उसका पीछा ही नहीं छूटता,” बागची ने कहा। “एक दफ़ा का और क्रिस्ता सुनिए। पुरी साहब को सोते समय पाँव दबवाने की आदत है। मैसेज़ पुरी रोज़ पंद्रह-बीस मिनट उनके पाँव दबाया करती हैं। उस दिन वह बड़ी थकी हुई थीं। बिस्तर पर जाते ही उन्हें झपकियाँ आने लगीं। पुरी साहब ने दो-एक बार उन्हें पुकारा और पाँव दबाने को कहा, पर ऊँ-आँ करके मैसेज़ पुरी सो गईं। लाचार होकर पुरी साहब ने रज़ाई ऊपर खींची और सोने की कोशिश करने लगे, कि इसी दम किसी ने हलके से उनके पाँव पर हाथ रखा। उन्होंने आँखें खोलकर देखा—पैताने बैठी हुई वह उनके पाँव दबा रही थी।”

“दिखाई भी देती है ?” महेंद्र ने पूछा।

“कभी-कभी,” बागची ने कहा। “बच्चों तक ने देखा है उसे। अभी कमरे का दरवाज़ा बंद करके सोओ और देखते ही देखते दरवाज़े की चिटकनी खुलने लगती है। कभी कभी तो वह बंद कमरे में, बिना दरवाज़ा खुले, चली आती है और उनके बीच से निकल जाती है। पर अक्सर यह सब अँधेरे में या कम उजाले में होता है।”

“बापरे !” अमृता के मुँह से निकला।

“ग़नीमत है वह कोई ऊधम नहीं मचाती,” बागची ने कहा।

“यह क्या कम ऊधम है !” अमृता बोली।

“वह गला भी तो दबा सकती थी,” बागची ने कहा।
“मगर वह ऐसा नहीं करती। जैसे और लोग हैं घर में, एक वह भी है। फ़र्क़ इतना है कि और लोग दिखाई देते हैं और वह दिखाई नहीं देती। झलक में दिखाई देती है—अभी दिखाई दी और अभी गायब। मिसेज़ पुरी उसे बड़ी गाली देती हैं और इसीलिए वह उन्हें ही ज़्यादा सताती है। रात को बाथ-रूम का लाइट मिसेज़ पुरी से कभी न जला। जब भी लाइट जलाया कि फ़ौरन बुझ गया और फिर लगी मिसेज़ पुरी उसे गालियाँ देने।”

“क्यों ! मिसेज़ पुरी उसे गालियाँ क्यों देती हैं ?” अमृता ने पूछा।

“अपनी सौत कहती हैं उसे,” मिसेज़ बागची बोली।

“सौत ?” अमृता ने कहा।

“पुरी साहब के पीछे जो ग्यारह साल से पड़ी हो वह औरत मिसेज़ पुरी की सौत ही हुई,” मिसेज़ बागची बोली।

“वह पुरी साहब के पीछे क्यों पड़ी है ?” महेंद्र ने पूछा।

“यही तो भेद की बात है,” मिसेज़ बागची ने कहा।

“भेद-वेद कुछ नहीं,” बागची ने कहा। “बात साफ़ है। वह पुरी साहब से प्रेम करती है।”

“प्रेम न और भी कुछ,” मिसेज़ बागची ने कहा।

“सच मानो, मैं जानता हूँ। एक रोज़ नशे में मस्त होकर पुरी साहब ने खुद मुझे सारा क्रिस्ता सुनाया था। पहले पुरी साहब दादर में रहते थे। बारह, तेरह साल पहले की

बात है। वहीं उनके पड़ोस में यह भी रहती थी। और तभी उसकी और पुरी साहब की आशनाई हो गई आपस में।”

“क्या?” महेंद्र बोल पड़ा।

“हाँ। आपने क्या समझ रखा है पुरी साहब को? बड़े आशिक्रमिजाज रह चुके हैं।”

“फिर? फिर क्या हुआ?” अमृता अधीर हो बोल उठी।

“फिर काफ़ी मामला बढ़ गया। दोनों छिप-छिपकर रोज़ ही मिलने लगे—”

“पुरी साहब की शादी हो चुकी थी तब?” महेंद्र ने पूछा।

“शादी को चार साल हो चुके थे। उनका बड़ा लड़का, राजेन्दर, पैदा हो चुका था।”

“अच्छा,” महेंद्र ने कहा, “बड़े छिपे रुस्तम निकले हमारे पुरी साहब!”

“लड़कियाँ खुद खिंचती थीं उनकी तरफ़। मैं तो उन्हें तब नहीं जानता था पर जवानी की तसवीरें देखी हैं उनकी। बड़े हसीन थे। हसीन तो अब भी हैं, हालाँकि ज़रा भारी हो गए हैं।”

“फिर क्या हुआ?” महेंद्र ने पूछा।

“मिसेज़ पुरी को पता था यह मामला?” अमृता ने पूछा।

“पहले नहीं था, मगर जब उन्हें पता चला तो—आप जानती हैं मिसेज़ पुरी को!—वह बखेड़ा खड़ा किया, पुरी साहब के होश ठिकाने आ गए।”

“फिर?”

“फिर क्या। फ़ौरन मिसेज़ पुरी ने घर बदल दिया और

पुरी साहब और बच्चों को लेकर दूसरे घर रहने चली गईं।”

“फिर?”

“उसके बाद लड़की की शादी हो गई।”

“किससे?” महेंद्र ने पूछा।

“मालूम नहीं। अहमदाबाद में किसी से हुई थी। शादी के कुछ ही महीने बाद वह मर गई। कहा जाता है उसने आत्महत्या कर ली।”

“फिर?” अमृता ने पूछा।

“फिर, बस, उसी के बाद से यह हाल है। दस मर्तबा घर बदले होंगे तब से, मगर जहाँ भी रहने जाते हैं वहाँ वह मौजूद। तभी तो मिसेज़ पुरी उसे अपनी सौत कहती हैं। कहती हैं: ‘इससे तो अच्छा था कि मैं उससे शादी करा देती पुरी साहब की। सौत किसे भली लगी है? पर मुर्दा सौत से तो ज़िंदा सौत भली ही रहती!’ यही है सारा किस्सा। आप लोग तो अब पुरी साहब के नीचेवाले फ्लैट में रहने जानेवाले हैं। पुरी साहब से सुनिएगा, वही बताएँगे, सारी बातें।”

“ना, बाबा! हमें नहीं जाना उस मकान में रहने। हमें नहीं रहना वहाँ,” अमृता ने कहा।

इसी समय महेंद्र ने गाड़ी का ब्रेक लगाया। उसका घर आ गया था।

“आज की शाम अच्छी गुज़री,” उसने कहा। “यह पहली फुहार हमेशा याद रहेगी।”

अमृता ने कनखियों से पति की ओर देखा। वह हाथ सँघ रहा था।

बागची और उसकी पत्नी महेंद्र की गाड़ी से उतरकर अपनी गाड़ी में बैठ रहे थे।

“हाँ,” बागची ने कहा। “पुरी साहब बड़े मज्जे के आदमी हैं। अच्छा भई, चलें। अगले शनीचर को मिलेंगे।”

“हाँ, हाँ, जरूर,” महेंद्र ने कहा।

बागची और उसकी पत्नी बिदा लेकर चले गए, और महेंद्र और अमृता गाड़ी गराज में छोड़कर मकान की लॉबी में प्रविष्ट हुए। सामने ही ऊपर जाने का जीना था। जीने के ऊपर लाइट जल रहा था। एक बार दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा और फिर जीना चढ़ने लगे। अमृता की दृष्टि बलब पर जमी थी।

सीढ़ियाँ चढ़कर जब वह दोनों दरवाजे पर पहुँचे तो अमृता ने घंटी की बटन दबाई और उसके पीछे खड़े हुए महेंद्र ने हलके-से उठाकर अपना हाथ सँघा। अमृता पलटी और पति का हाथ अपनी छाती पर रखकर बोली :

“तुम्हें मेरी कसम है जो फिर कभी पुरी साहब के यहाँ गए।”

स्त्री के मुँह से अचानक ऐसे उद्गारों का स्फोट सुन, विस्मय और उलझन में पड़ा, महेंद्र मुस्कुरा रहा था जब अन्दर से उसके नौकर ने दरवाजा खोला।

महेंद्र, चुपचाप अमृता का हाथ थामे, अंदर चला गया और फिर नौकर ने खूब सारा मुँह फाड़कर जमुहाई ली और दरवाजा बंद कर लिया।

हरा रुमाल

रेस के लिए हम लोग पूना जा रहे थे। रेस का मुझे बिलकुल शौक नहीं। बम्बई में रहता हूँ मगर साल में एक या दो मरतबा मुश्किल से रेसकोर्स जाता होऊँगा। खेलने के लिए नहीं जाता, सिर्फ़ तफ़रीह के लिए। जब जाता हूँ तो थोड़ा बहुत खेल भी लेता हूँ—यही दस-बीस रुपये। और कभी-कभी इसलिए जाता हूँ कि ले जाया जाता हूँ—जबर्दस्ती। जैसे आज मैं जबर्दस्ती पूना ले जाया जा रहा था। रेस का तो बहाना ही बहाना था, वास्तव में पीटर अपनी नई गाड़ी का, जो उसने कल ही खरीदकर घर लाई थी, आज ट्रायल लेना चाहता था। गाड़ी 'बेबी हिन्दुस्तान' थी और पीटर मेरा दोस्त था। पीटर ज्ञात का ऐंग्लो इंडियन और स्वभाव का मस्त था। कोलाबा में उसका एक छोटा-सा होटल था जहाँ पर छुट्टी के दिन अक्सर मैं चायनीज़ खाना खाने के लिए जाया करता था। पीटर के होटल में खाते खाते पीटर से दोस्ती हो गई थी। सो आज दोपहर को जब नई गाड़ी लेकर पीटर ने मेरे घर आकर पूना चलने का इसरार किया तो मैं ना न कर सका। आज शनीचर था, कल की रेस देखकर कल शाम तक लौट आने को घर में कहकर मैं उसकी नई 'बेबी हिन्दुस्तान' में बैठकर पूना चल दिया था।

खापोली में हम लोगों ने दही बड़े खाए और चाय पी। पीटर ने गाड़ी के रेडिएटर में पानी डाला और फिर हम लोग खंडाला जा पहुँचे। पीटर अपनी गाड़ी की चाल पर खुश था। खंडाला के ऊँचे पहाड़ बिना रुके, बिना ठिठके, बिना हाँफे वह बराबर चढ़ती चली गई थी। सहसा पीटर ने मुख्य सड़क से गाड़ी मोड़ी और दाईं ओर एक छोटे रास्ते पर चलने लगा।

“क्यों, क्या इरादा है?” मैंने पूछा।

“रात खंडाला होटल में ही क्यों न बिताई जाए?” उसने कहा। “रात को पूना पहुँचकर सो ही जाना है; यहीं सो जाएँगे। सुबह आराम से उठकर सीधे पूना रेस कोर्स चले चलेंगे।”

“खयाल तो अच्छा है,” मैंने कहा। “यहाँ से पूना आखिर एक ही घण्टे का तो सफ़र है।”

सो, हम लोग खंडाला होटल में जा टिके। सूरज डूबने में अभी समय था। जाकर मैंने खूब नहाया। जब मैं नहाकर निकला तो पीटर अपनी नई मोटर साफ़ कर रहा था। मैं छड़ी उठाकर पहाड़ी पगडंडी के रास्ते घूमने चला गया। घण्टा भर बाद जब मैं लौटकर बरामदे में दाखिल हुआ तो मैंने सुना कमरे के अन्दर पीटर किसी से बातें कर रहा है। मुझे देखकर पीटर ने अपने साथी का मुँह से परिचय कराया।

“आप मिस्टर महम्मद हुसेन हैं। पनवेल में रहते हैं और रेस के बड़े शौकीन हैं,” पीटर ने कहा फिर मेरी ओर संकेत करके : “और आप मेरे दोस्त मलहोत्रा।”

मैंने महम्मद हुसेन से हाथ मिलाया और बैठ गया।

“अच्छा तो, साहब, मैं चलूँ,” महम्मद हुसेन ने पीटर से कहा। “मैंने जो आपको टिप्स दिए हैं बस उन्हीं पर लगाइ-एगा कल रेस में।”

“ज़रूर—ज़रूर—बड़ी मेहरबानी,” पीटर ने उससे हाथ मिलाते हुए कहा।

महम्मद हुसेन चला गया। मुझे गुमसुम दरवाज़े की ओर तकते देख पीटर ने पूछा :

“क्या बात है? क्या सोच रहे हो?”

“कौन था यह शख्स?”

“पता नहीं। नहाकर मैं डाइनिंग-रूम में कोल्डड्रिंक पीने गया तो वहीं उससे मुलाक़ात हुई। कहता है पनवेल में रहता है। वहाँ उसका पोल्ट्री फ़ॉर्म है। छोटी-सी खटारा गाड़ी में आया था। चाय पीने के लिए होटल आया था। पूना जा रहा है—कल की रेस के लिए। कहता है हर रेस में सौ, दो सौ बना लेता है। मुझे बड़े अच्छे टिप्स दे गया है। कहता है श्योर टिप्स हैं—खासकर ‘मॉर्निंग स्टार’ पाँचवीं रेस में ज़रूर अव्वल—”

“कौन था यह शख्स?”

“बताया तो,” पीटर ने कहा।

“क्या नाम? महम्मद हुसेन?”

“उसने तो यही कहा था! क्यों?”

“ऐसा लगता है मैंने देखा है इसे कहीं।”

“देखा होगा। इसमें ताज्जुब की क्या—”

“ऐसा लगता है मैं जानता हूँ इसे।”

“जानते होंगे। मगर इसमें ताज्जुब—”

“ऐसा लगता है मैंने देखा है इसे—कई साल पहले—
कहाँ पर देखा है, याद नहीं आता....”

पीटर हँसने लगा।

“तो इसमें परेशानी की क्या बात है,” उसने कहा।
“जिंदगी में आदमी पचासों से मिलता है—हज़ारों से मिलता
है। मिलकर भूल जाता है—उनमें से कइयों को। सभी थोड़े
ही याद रहते हैं।”

“नहीं, यार,” मैंने कहा, “यह बात नहीं। इसे मैंने
किसी खास जगह देखा है—कोई बात हुई थी—कोई घटना—
कोई खास मामला—कोई वारदात.... याद नहीं आ
रहा है कि क्या बात थी, कहाँ देखा था, कब देखा था....”

“खैर, भूल जाओ। चलो, डाइनिंग-रूम चलें। जल्दी
से खाकर सो जाएँगे।”

हम लोग उठकर खाने चले गए। डाइनिंग-रूम लोगों
से खचाखच भरा हुआ था। बम्बई से पूना जानेवाले लोग
खंडाला में खाने को रुक जाया करते हैं; सो, रेस के सीज़न में,
हर शनीचर की शाम को, रेस जानेवाले यात्रियों से और
इतवार की शाम को रेस से लौटनेवालों से खंडाला के होटलों
के डाइनिंग-रूम ऐसे ही खचाखच भरे रहते हैं। एक आदमी
ज्यादा पीकर आया हुआ था और ज़ोरों से बड़बड़ा रहा था,
सारे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किए जा रहा था।
पर मेरा ध्यान कहीं और था। मेरे मस्तिष्क में बस वही
एक विचार बगूले की तरह चक्कर काट रहा था। उसी एक

उधेड़-बुन में मैं पड़ा हुआ था, अतीत के स्मृति-पृष्ठों को उलट-पुलट रहा था कहाँ और कब देखा है उसे—महम्मद हुसेन को। रह-रहकर पीटर मेरी ओर देखकर मुस्कुरा देता था। वह जानता था महम्मद हुसेन मुझे परेशान कर रहा है।

जब हम लोग खाकर अपने कमरे में आए और सोने गए तो पीटर ने कहा :

“मुझे पता है आज रात तुम्हें नींद न आएगी। महम्मद हुसेन का खयाल तुम्हें सोने न देगा।”

“मैं जितना कोशिश करता हूँ कि न सोचूँ उसके बारे में, उतना ही उसका खयाल मेरा पीछा किए जा रहा है। ऐसा लगता है अब याद आ गया और अब याद आ गया, मगर याद नहीं आता।”

“अब सो भी जाओ। गुड नाइट।”

“गुड नाइट।”

थोड़ी देर बाद पीटर खरटि भरने लगा। और मैं सोच रहा था—उसी महम्मद हुसेन के बारे में सोचते सोचते न जाने कब मेरी आँख लग गई। जब खुली तो दिन काफ़ी चढ़ आया था। महम्मद हुसेन मेरे दिमाग में अब न था।

नहा-धोकर, ब्रेकफ़ास्ट लेकर, लगभग दस बजे हम लोग पूना के लिए रवाना हो गए। लोनावला के आगे दस मील भी न गए होंगे कि सामने सड़क पर भेड़ों का एक झुंड मिल गया। पीटर हॉर्न पर हॉर्न बजाए जा रहा था पर भेड़ों ने

अपनी भेड़-चाल न छोड़ी और सड़क पर से वह तिल भर भी न हटीं। तब खीझकर पीटर ने उन पर मोटर चला दी। जैसे कैंची से मलमल का थान कटता है, भेड़ों का वह भुंड चर-से, मोटर के फ़ुट, दो फ़ुट आगे-आगे, कटता चला गया और मोटर लगभग भुंड पार ही कर गई थी कि भेड़ का एक नन्हा बच्चा ऐन बीचोबीच रुककर अड़ गया, मानो थान के बीच कोई बारीक सी गाँठ आ गई हो जिस पर कैंची न चल सके। खट-से पीटर ने ब्रेक लगाया और लपककर एक भेड़वाला सामने आया और बच्चे को खींचकर चट-से बाजू सरककर खड़ा हो गया। पीटर ने उसे अँगरेज़ी में गन्दी गाली दी और वह भेड़वाला अपनी मराठी में हँसने लगा।

“अब, हँसता क्या है। उठा, अपना रूमाल उठा। मोटर जाएगी ऊपर से तो चिंधी उड़ जाएगी तेरे रूमाल की,” पीटर ने फटकारा।

भेड़वाला हिम्मत करके फिर लपका और मोटर के सामने से, ठीक पहिये के पास, सड़क पर पड़ा हुआ हरे रंग का ऊनी रूमाल उठाकर, धूल झाड़ता हुआ, एक ओर खड़ा हो गया। एकाएक जोरों से ब्रेक लगने के कारण गाड़ी का इंजन बंद हो चुका था। पीटर ने इंजन स्टार्ट किया और एक्सलरेटर दबाया। भेड़वाला, एक कंधे पर भेड़ का बच्चा उठाए और दूसरे पर हरा रूमाल डाले, अपनी बत्तीसी दिखाए जा रहा था जब गाड़ी सूँ करती हुई वहाँ से छूट निकली और तभी, एकबारगी ही, जैसे बरसात की अँधेरी रात में अचानक बिजली चमक उठती है, मेरे दिमाग में महम्मद हुसेन का खयाल आ जमा, खयाल ही

नहीं, महम्मद हुसेन स्वयं, समूचा महम्मद हुसेन—पंद्रह साल पहलेवाला महम्मद हुसेन काँधे पर हरा रूमाल लिए आन उपस्थित हुआ—और मैं बरबस बोल उठा : “आ गया—याद आ गया।”

पीटर ने साश्चर्य मेरी ओर देखा।

“क्या याद आ गया?” उसने पूछा।

“महम्मद हुसेन,” मैंने कहा। “याद आ गया—कि मैंने उसे कहाँ देखा था।”

“ओह! कहाँ देखा था?” पीटर ने दिलचस्पी लेते हुए पूछा।

“पनवेल में। उस बात को आज पन्द्रह साल होने आए! पनवेल में देखा था उसे मैंने। अपने एक दोस्त के घर।”

“अच्छा! खूब याद आया तुम्हें!”

“बात ही ऐसी थी। बेचारा महम्मद हुसेन!”

“क्यों, क्या बात हुई थी?” पीटर ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

“अजीब किस्सा है!” मैंने कहा।

“क्या हुआ था?”

“पन्द्रह” साल पहले की बात है”, मैंने कहा। “पन्द्रह साल हो गए उस बात को। पनवेल में मेरे एक दोस्त रहते थे—जिमी मेहता। पारसी थे। ठेकेदार थे। पनवेल में उनका मकान था। पचीस-तीस एकड़ ज़मीन भी थी। भैंसे भी पाल रखी थीं। दूध भी बेचते थे और काश्त भी करते

थे। महीने में एकाध इतवार को मैं उनके यहाँ ही आता था। उन दिनों मेरे पास मोटर न थी। सुबह ट्रेन से जाता और रात को ट्रेन से लौट आता। बम्बई से पनवेल सिर्फ़ एक घंटे का सफ़र है। जिमी मेहता उम्र में मुझसे बीस साल बड़े रहे होंगे। पर वह उन लोगों में से थे जिन पर साल नहीं बैठते। जो सदा युवावस्था में होते हैं। जो सदा—”

पीटर ने मुझे बीच में टोककर कहा : “तुम तो जिमी मेहता की बात कर रहे हो और मैं समझता था कि महम्मद हुसेन का कोई किस्सा बताने चले थे।”

“बताता हूँ, वही बताता हूँ। महम्मद हुसेन को मैंने पहली बार जिमी मेहता के घर ही देखा था। वही बता रहा हूँ। जिमी मेहता को भाषाओं का बड़ा शौक था। गुजराती तो उनकी मातृभाषा थी ही, पर वह हिंदी, मराठी, अँगरेज़ी और फ़ारसी भी बोल लेते थे, और ख़ासी बोल लेते थे। उनके दो लड़के थे—नाम भूल रहा हूँ उनका—छोटे-छोटे थे—आठ, दस साल के। वहीं स्कूल में पढ़ने जाया करते थे। उन्हीं लड़कों को उर्दू और फ़ारसी पढ़ाने के लिए महम्मद हुसेन रोज़ शाम को उनके घर आया करता था। और वहीं उसे मैंने देखा था। सँकरी मोहरी वाला पाजामा, उसके ऊपर कमीज़, उस पर जाकिट, सर पर काली दोपल्ली टोपी और काँधे पर एक लम्बा-चौड़ा ऊनी हरा रूमाल—यह था उसका हुलिया। देखने में बिल्कुल लोफ़र लगता था; पर जिमी मेहता उससे खुश थे, क्योंकि वह पढ़ाता बहुत अच्छा था। फ़ारसी की गुलिस्ताँ-बोस्ताँ वह जब लड़कों को पढ़ाता तो

अकसर जिमी मेहता खुद भी पास में बैठ जाते और बड़े चाव से सुनने लगते। लड़कों का पढ़ना समाप्त होने के बाद महम्मद हुसेन के साथ कभी-कभी जिमी मेहता आध-आध घण्टा और कभी-कभी घंटा-घंटा भर बैठकर उर्दू और फ़ारसी की शायरी उससे सुना करते। महम्मद हुसेन को लाखों तो नहीं मगर हज़ारों चुनन्दे चुनन्दे शेर याद थे। और वह भी इस अदा से सुनाता कि जिमी मेहता दाद दिए बिना न रहते। शेर सुनाते-सुनाते महम्मद हुसेन अपना वह ऊनी हरा रूमाल एक काँधे से दूसरे पर रखा करता और कभी रूमाल दोनों हाथों में लेकर उससे मुँह का पसीना पोंछा करता। मेरी समझ में यह कभी न आया कि ऊनी रूमाल से कोई कैसे मुँह का पसीना पोंछ सकता है। पर महम्मद हुसेन पोंछा करता था। खैर, एक रोज़ जब मैं पनवेल पहुँचा तो जिमी मेहता के घर में उथल-पुथल मची हुई थी। जिमी, उनकी स्त्री, दोनों बच्चे और घर के सारे नौकर परेशान थे। पिछली रात घर में नक़ब लगाकर चोर तीन हज़ार रुपये नक़द और चाँदी के कुछ बरतन चुरा ले गया था। कुल हानि लगभग पाँच हज़ार की हुई थी।

“घर के नौकरों की करतूत है,” मैंने जिमी से कहा।
 “घर का भेद जाननेवाला ही घर में नक़ब लगा सकता है। दूसरे को क्या पता कौन चीज़ कहाँ धरी है, रुपया किस बकसे में पड़ा है।”

“मेरा भी यही खयाल है,” जिमी बोला।

“पुलिस को ख़बर दी?”

“हाँ, दी है।”

“थोड़ी देर में पुलिस इन्स्पेक्टर, दो सिपाहियों को साथ लेकर आ पहुँचा। घर की खूब छान-बीन की गई। बैठक की दीवार में दस-बारह ईंटें हटाकर छेद किया गया था और इसी छेद में से चोर अन्दर प्रविष्ट हुआ था। कहीं कोई चिह्न नहीं छोड़ गया था। इन्स्पेक्टर ने सारे नौकरों को बुलाकर पूछताछ की, डराया, धमकाया और दो-एक को मारा-पीटा भी; पर चोर का पता न चला। दोपहर हो गई। इन्स्पेक्टर और उसके सिपाही चले गए और टेबल पर हमारा लंच लगा दिया गया।

“पनवेल आने का मेरा मतलब ही यह हुआ करता था कि अच्छी खासी पिकनिक हो जाया करती थी। आज की मेरी पिकनिक किरकिरी रही। जिमी मूड में न थे। मेरा इतवार खराब हो गया था। बैठक के बाहर, बगीचे में, पेड़ तले मोढ़ा डालकर मैं तीसरे पहर अखबार पढ़ रहा था। ठंडी हवा के भोंखों में ऊपर पत्ते मरमरा रहे थे। मुझे झपकी आ गई। थोड़ी देर बाद किचन में प्यालियाँ खनकीं तो मैं जाग पड़ा। चाय आनेवाली थी। चाय के इंतज़ार में बैठा हुआ मैं सामने को शून्य दृष्टि से देखने लगा। सहसा मेरी दृष्टि एक जगह स्थिर होकर जम गई। सामने पचास फ़ुट पर मकान के कम्पाउंड की ऊँची हेज थी। यहीं पर बाँस का एक घना पेड़ था। मेरी दृष्टि इसी बाँस के पेड़ पर जमी हुई थी। बाँस के पत्तों में हिलगी हुई कोई चीज़ रह-रहकर हिल उठती थी। वह कोई पक्षी न था। कोई और चीज़ थी। कौतूहलवश

उठकर मैं बाँस के पेड़ के पास पहुँचा। आहत तोते की तरह, बाँस के पत्तों में हिलगा हुआ हरा रूमाल फड़फड़ा रहा था, ऊनी हरा रूमाल—मास्टर महम्मद हुसेन का हरा रूमाल।”

पीटर ने अचंभित होकर मेरी ओर देखा। “अच्छा! यानी नक्रब महम्मद हुसेन ने लगाई थी?” उसने कहा।

“रूमाल उसी का था।”

“फिर? फिर क्या हुआ?”

“फिर मैंने जिमी को बुलाकर बाँस के पेड़ से हिलगा हुआ वह रूमाल दिखाया। चोर, यानी महम्मद हुसेन, चोरी का माल लेकर जब रात को बाड़ी फाँदकर भागने लगा तो उसका रूमाल बाँस से अटक गया। अब चोर पकड़ा गया था। मैंने जिमी से कहा :

“‘मुझे तो आपका वह मास्टर हमेशा ही लोफ़र लगा है—बिलकुल गुंडा—खानसामा। इन्स्पेक्टर को खबर कर दीजिए, आजाएगा। अब तो सुबूत मिल गया।’

“‘अभी नहीं मिला सुबूत,’ जिमी ने कहा। ‘आज इतवार है। शाम को मास्टर बच्चों को पढ़ाने आएगा। रोज़ की तरह आज भी उसका वह हरा रूमाल अगर उसके काँधे पर न हुआ—’

“‘कभी न होगा,’ मैं बोल पड़ा।

“‘अगर न हुआ तब—और तभी—हमें पक्का सुबूत मिलेगा। तब तक नहीं। मुमकिन है यह वाला हरा रूमाल किसी और का हो।’

“बात जिमी ने सच ही कही थी। जल्दबाज़ी करने में

कोई फ़ायदा न था। आखिर मास्टर कहीं भागा नहीं जा रहा था। हम लोग सब—जिमी की स्त्री और दोनों बच्चे भी—मास्टर के इंतज़ार में उतावले हो उठे। ठीक पाँच बजे, रोज़ की तरह ही, मास्टर महम्मद हुसेन फाटक खोलकर आँगन में आता हुआ दिखाई दिया। उसके काँधे पर रुमाल न था। जिमी ने मेरी ओर देखा और मैंने उनकी ओर, और हम दोनों को सलाम करके मास्टर बच्चों को पढ़ाने बैठ गया। बच्चे आँख फाड़े उसे घूर रहे थे। जिमी ने भीतर जाकर परदे की आड़ से झाँकती हुई अपनी स्त्री से कहा कि वह फ़ौरन नौकर द्वारा इन्स्पेक्टर को कहला भेजे कि चोर पकड़ा गया है सो वह फ़ौरन चला आए। बाहर आकर जिमी ने कहा :

“‘रात हमारे यहाँ चोरी हो गई, मास्टर!’

“‘मास्टर ने अपने कानों पर विश्वास न करते हुए साश्चर्य पूछा : ‘जी, साहब, क्या फ़रमाया आपने?’

“‘हमारे यहाँ रात को किसी चोर ने नक़ब लगाई।’

“‘ओह तभी आप लोग कुछ परेशान-से दिखाई दिए। आज का माहौल ही कुछ अजीबोगरीब लगा। कोई नुक़सान तो नहीं हुआ?’

“‘तीन हज़ार रुपये और चाँदी के कुछ बरतन ले गया चोर।

“‘कम्बख़्त!’ मास्टर ने कहा। फिर बोला : ‘कहाँ लगाई नक़ब?’

“‘बाज़ू वाले कमरे में।’

“‘आपके दफ़्तर के कमरे में?’

“‘हाँ।’

“जिमी और मैं उसे पैनी दृष्टि से देख रहे थे। वह ऐसा भोला बनकर विस्मय प्रदर्शन किए जा रहा था कि कोई शातिर भी क्या करेगा। दोनों लड़के भी आज उससे फ़ारसी इस तरह पढ़ रहे थे मानो जर्मन पढ़ रहे हों।

“‘बड़ी बुरी बात हुई यह तो ! आपने पुलिस को ख़बर नहीं की ?’ मास्टर ने कहा।

“‘की है।’

“‘फिर ?’

“‘आ रही है, पुलिस इन्स्पेक्टर को बुलाने भेजा है।’

“‘मास्टर को गर् से पसीना आ गया। वह एक, दो बार हलके से खाँसा, मानो उसके गले में कुछ अटक गया हो, फिर निगलकर उसने कहा :

“‘अच्छा किया आपने जो पुलिस को ख़बर कर दी। चोर की तलाश तो पुलिस ही कर सकती है !’ यह कहकर उसने मुँह पर का पसीना पोंछने के लिए अपने काँधे पर हाथ लगाया। काँधे पर रूमाल न था। फिर जाकिट के अन्दर हाथ डालकर उसने जेब से रूमाल निकाला—वही ऊनी हरा रूमाल—और पसीना पोंछने लगा। ‘चोर और —और चोरी की बातें सुनकर मुझे बड़ा डर लगता है !’ उसने कहा और मुस्कुराने लगा, उस तरह जिस तरह कोई भयभीत बच्चा मुस्कुराता है जब वह यह दर्शाने का प्रयत्न कर रहा हो कि वह डरा नहीं।

“जिमी और मैं अचम्भे में पड़े आँख फाड़-फाड़कर उसे और उसके हरे रूमाल को देख रहे थे कि इन्स्पेक्टर साइकल पर लपका आया।”

“कहिए, मिस्टर मेहता, कहाँ है चोर? आपके नौकर ने कहा कि चोर पकड़ा गया। कहाँ है वह?’ इन्स्पेक्टर ने कहा।

“माफ़ कीजिए, इन्स्पेक्टर साहब, ज़रा ग़लतफ़हमी हो गई थी हमारी। बैठिए, अब आप आए ही हैं तो चाय पीकर जाइएगा। अच्छा, मास्टर, आज के दिन जल्दी छुट्टी दे दीजिए बच्चों को’, जिमी ने कहा।

“मास्टर उठा और, काँधे पर अपना हरा रूमाल डाले, सलाम करके चला गया।

“उसके जाने के बाद जिमी ने कहा : ‘आज हमें बड़ा धोखा हो गया। शक ही शक में बेचारे ग़रीब मास्टर को हमने पकड़ा दिया होता।’

“‘क्या हुआ?’ इन्स्पेक्टर ने पूछा।

“जिमी रूमाल वाला सारा क्रिस्ता उसे बतलाने लगा। सुनकर इन्स्पेक्टर हँसा, मगर बाँस के पेड़ पर पाया हुआ रूमाल उसने अपनी हिरासत में ले लिया।

“उसके एक महीने के बाद मैं फिर जिमी के घर पनवेल पहुँचा। चोर का कोई पता न लग पाया था तब तक और उसके बाद भी कभी नहीं लग पाया। साल भर बाद जिमी मेहता पनवेल का घर-ज़मीन बेचकर बंगलोर चले गए और वहीं बस गए। जब कल शाम को खंडाला होटल में तुम्हारे साथ महम्मद हुसेन को मैंने देखा तो देखते ही मुझे लगा कि इसे पहले कहीं देखा है। भूठी तुहमत पर बेचारा बेकुसूर मास्टर उस दिन हवालात में भेज दिया गया होता।”

पीटर जोर जोर से हँसने लगा।

“बड़ा खतरनाक निकला वह हरा रूमाल!” उसने कहा।

“कहीं गलती से उस दिन वह रूमाल लाना भूल जाता तो तुम लोगों ने उसे जेल भिजवाने में कोई कसर न रख छोड़ी थी।”

“बेचारा मास्टर!”

“अब तो बड़े ठाटबाट में था। मुझे टिप्स दे गया है। ‘मॉर्निंग स्टार’ पर खेलने के लिए बड़ा जोर दिया है।”

“मगर तुमसे तो जान पहचान न थी, तुम्हें क्यों टिप्स दिए उसने?” मैंने पूछा।

“मुफ्त में थोड़े ही दिए।”

“तो?”

“अगर घोड़ा आ गया तो पचीस परसेंट यानी एक-चौथाई उसका हिस्सा होगा।”

“और अगर न आया तो?”

“तो कुछ नहीं—मेरे पैसे डूबे।”

“अच्छा, तो यह बात है,” मैंने कहा। “यह महम्मद हुसेन अब वह पुराना मास्टर न रहा जो एक मिनट में दो बार पसीना पोछता था। अब वह होशियार हो गया है। टिप देकर सौदा कर गया है।”

रेस में पीटर ने लगभग बताए हुए टिप्स के अनुसार ही घोड़े खेले। महम्मद हुसेन की आधी टिप्स ग़लत निकलीं। नतीजा यह हुआ कि पहली रेस में जीती हुई रक़म पीटर दूसरी रेस में हार गया। तीसरी में कुछ पैसे बने थे, सो चौथी में कुछ घाटा हो गया। मगर पाँचवीं रेस में ‘मॉर्निंग स्टार’ दौड़ रहा था और

महम्मद हुसेन ने इस पर रुपये लगाने के लिए बड़ा जोर दिया था। अब तब सब मिलाकर पीटर साठ रुपये जीत रहा था। पाँचवीं रेस में उसने यह साठ रुपये तो लगा ही दिए, ऊपर से बटुए में से निकालकर और सौ रुपए लगा दिए। यानी 'मॉर्निंग स्टार' पर पीटर एक-सौ साठ रुपये खेल गया। मैं बीस रुपये हार चुका था, सो मैं अब सिर्फ़ तमाशा देख रहा था। खेलने से ज्यादा मज़ा मुझे घुड़दौड़ देखने में आता था। यह पाँचवीं रेस एक मील की थी।

दौड़ शुरू होने पर जब घोड़े पहले फ़्लॉग पर पहुँचे तो 'मॉर्निंग स्टार' का नम्बर दूसरा था। जब सातवें पर पहुँचे तो वह तीसरा नम्बर था। पर जब आठवाँ और आखिरी फ़्लॉग कुल तीस फ़ुट रह गया तो 'मॉर्निंग स्टार' सबसे अव्वल था और पाँचवीं रेस वही जीत गया।

पीटर खुशी से फूल उठा और दौड़ा-दौड़ा काउन्टर पर पहुँचा। मैं भी उसके साथ था। ९ के भाव से रु० १४४० उसे मिले। वह रुपये गिनकर जेब में रख ही रहा था कि किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखा। महम्मद हुसेन खड़ा मुस्कुरा रहा था।

“आइए, साहब, चाय पीएँ,” उसने कहा।

चाय पीते-पीते महम्मद हुसेन मुझे देखकर मुस्कुराया। मैं भी मुस्कुराया।

“पंद्रह बरस हो गए आप से मुलाकात हुए,” मैंने कहा।

“जी; ठीक पंद्रह बरस। कल शाम को आप मुझे नहीं पहचान पाए थे।”

“नहीं, कल नहीं पहचाना था। मगर आज सुबह आप एक-

दम याद आ गए। सारी बातें याद हो आईं। जिमी मेहता के घर आप पढ़ाने आया करते थे।”

“जी, बिलकुल दुस्त—खुदा मेहता साहब को बरकत दे। बड़े नेक आदमी थे। कहाँ हैं अब वह?”

“बंगलोर रहने चले गए थे,” मैंने कहा। “पिछले साल ही उनका इन्तकाल हुआ।”

“च—च—च ! बेचारे ! खुदा उनको जन्नत बरुशे। मैं आज जो कुछ भी हूँ उन्हीं की बदौलत हूँ।”

“उनके घर एक दिन चोरी हुई थी। आपको याद है?”

“जी हाँ; खूब याद है... और आप लोगों का शक मुझ पर हुआ था।”

“आपको कैसे पता?” मैंने साश्चर्य पूछा।

“क्योंकि—” महम्मद हुसेन ने चाय पीते-पीते मुस्कराकर कहा, “क्योंकि चोरी मैंने की थी—पहली बार चोरी की थी ज़िन्दगी में और वही आखरी बार थी। उसके बाद चोरी करने की ज़रूरत नहीं पड़ी।”

पीटर और मैं विस्मित आँखों से उसकी ओर देखने लगे।

“मैं सच कहता हूँ—वह चोरी मैंने की थी,” महम्मद हुसेन ने कहा।

“आपने की थी?” मैंने पूछा। “फिर वह हरा रुमाल—”

“वैसे रुमाल मेरे पास दो भी तो हो सकते थे।”

“दो? मगर एक तरह के दो रुमाल—”

“मेरे पास पुरानी एक शाल थी। उसी को फाड़कर मैंने चार, छः रुमाल बनाए हुए थे। जब एक रुमाल बाँस में हिलग

गया तो चट मैंने—”

“मैं सस्रभ गया,” मैंने कहा।

महम्मद हुसेन मुस्कुरा रहा था।

पीटर, जो हम दोनों की शकलें घूर रहा था, सहसा ठहाका मारकर हँस पड़ा। जेब से उसने बटुआ निकाला और उसमें से रु० ३६० गिनकर महम्मद हुसेन को पकड़ाते हुए कहा :

“यह आपका हिस्सा।”

“शुक्रिया,” महम्मद हुसेन ने रुपये लेते हुए कहा, “शुक्रिया। चाय का बिल मैं दूंगा।”

धुएँ की लकीर

बादलों को चीरता, फाड़ता, सूँ-सूँ करता हवाई जहाज चला जा रहा था। बारिश के दिन थे। यात्री कम थे। आधा जहाज खाली था। रह-रहकर जहाज भटके खा रहा था। शायद नीचे ज़ोरों की वर्षा हो रही थी। शायद जहाज हलके-फुलके तूफ़ान से गुज़र रहा था।

सुबोध, खिड़की के पास बैठा, बाहर देख रहा था। बाहर सिवा कुहरे के और कुछ न दिखाई देता था। सिर्फ़ सफ़ेद-सफ़ेद कुहरा था। नीचेवाले इसी सफ़ेदी को बादल कहते हैं। वही सफ़ेदी खिड़की के बाहर सतत फैली हुई थी। ठोस सफ़ेदी। ठीक ऐसी सफ़ेदी जैसी कि शरीर के माँस और चमड़ी के बीच चर्बी की होती है। चर्बी की तरह ही ठोस थी यह सफ़ेदी। शरीर पर से अगर चर्बी का स्तर और उसके ऊपर की खाल खींच लिए जाएँ तो केवल माँस का लोथड़ा रह जाता है जो हड्डियों को बाँधकर रखने के लिए काफ़ी नहीं। लोथड़े में से खून बह निकलेगा, नसों ढीली पड़ जाएँगी, खुल जाएँगी और अंदर से पिंजर की हड्डियाँ छितर-बितर होकर लोथड़े में से इस तरह बाहर को भाँकने लगेंगी जिस तरह कंगाल की भोंपड़ी में से बाँस भाँकते हैं। चारों ओर फैली हुई बादलों की यह चर्बी भी शायद पृथ्वी के लोथड़े को बाँधे हुए थी।

इसी अनन्त सफ़ेदी को सुबोध देख रहा था। बड़ी देर से देख रहा था। देखने योग्य कोई बात न थी फिर भी देखे जा रहा था, क्योंकि जहाज़ के अन्दर का दृश्य देखने योग्य न था। आजू-बाजू वालों का भटकों से बुरा हाल था। अन्दर को जब कभी उसने देखा, कोई उलटी कर रहा था या कोई वैसा मुँह बना रहा था जैसा उलटी करने के पूर्व बनाया जाता है। यात्रियों की हालत बुरी थी। उनके बिगड़े हुए या बिगड़ते हुए मुँह से बाहर की सफ़ेद चर्बी अच्छी थी।

पहले-पहले जब कभी खिड़की के शीशे से सुबोध का गाल रगड़ खाया तो उसे लगा किसी ने बर्फ़ छुआ दी। मगर अब तो बम्बई से उड़े लगभग घंटा हो गया था। शीशे का सुबोध के गाल से इतनी बार सम्पर्क हुआ था कि यह कहना मुश्किल था कि खिड़की का शीशा अधिक ठंडा था या उसका गाल। सुबोध ने ठंडे सुन्न गाल पर हाथ फेरा तो खट की आवाज़ हुई। सामने केबिन का दरवाज़ा खुल रहा था और एअर होस्टेस एक कार्ड लिए बाहर आ रही थी। सामनेवाले यात्री को उसने वह कार्ड पकड़ा दिया। सामनेवाला यात्री बम्बई से साथ लाई हुई टाइम्स ऑफ़ इंडिया की ताज़ा प्रति पढ़ने में तल्लीन था। कार्ड बिना पढ़े ही उसने मुड़कर सुबोध को दे दिया। सुबोध ने कार्ड पर नज़र दौड़ाई। उसमें लिखा था : दाईं ओर अरबी समुद्र, बाईं ओर मलाबार के पहाड़, हवाई जहाज़ का वेग १६० मील प्रति घंटा, समुद्र सतह से जहाज़ की ऊँचाई ७००० फ़ुट, बेलगाँव हवाई अड्डा १०० मील, फिर कैप्टन, पायलट आदि जहाज़ के कर्मचारियों के नाम थे।

‘बेलगाँव एक सौ मील !’ सुबोध ने सोचा और कार्ड से पंखा भलने लगा। ‘इसी बेलगाँव के एअरोड्रोम पर मैंने उसे पहली बार देखा था !.....’

उस बात को आज तीन साल होने आए। तीन साल पहले कोलंबो में डॉक्टरों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा थी। उसी में सम्मिलित होने के लिए, तीन साल पहले, ऐसे ही हवाई जहाज से सुबोध बम्बई से रवाना हुआ था। वह सर्दी के दिन थे। दिसम्बर महीना था। सुबह तड़के ही सांताक्रुज एअरोड्रोम पर वह पहुँचा था। हर तरफ़ कुहरा छाया हुआ था। पहाड़ियों से घिरा हुआ हवाई अड्डा उस दिन बड़ा सुहावना लगा था। उस रोज़ जहाज पर बड़ी भीड़ थी। एक भी सीट खाली न थी। जल्दी-जल्दी प्लेन पर चढ़कर उसने ऐसे ही खिड़की के पास वाली सीट अड़ाली थी। सुबह के झटपुटे में जहाज उड़ा था। सर्दी के दिन थे। दिसम्बर महीना था। कोट का कॉलर उलटाकर सुबोध ने गला और छाती ढँक लिए थे। खिड़की से टिककर बाहर देखना चाहता था तो गाल पर किसी ने बर्क़ रखा ही थी। खिड़की से दूर हटकर, सीट को पसरा कर, वह आराम से लेट गया था। उसे झपकी आ गई थी। सहसा कान में उसने कुछ दर्द-सा अनुभव किया। दर्द ज़ोरों की टीस बन गया। आँख खुल गई। एअरोप्लेन नीचे उतर रहा था। वह उठ बैठा। प्लेन किसी ठोस पदार्थ पर रगड़ता हुआ फिसला जा रहा था। उसने खिड़की से देखा, एअरोड्रोम के रनवे पर उसका प्लेन बौड़ रहा था। वह बेलगाँव एअरोड्रोम था।

एअरहोस्टेस ने आकर सुबोध के हाथ से विनयपूर्वक कार्ड ले लिया। “बेलगाँव है,” उसने कहा, “जहाज उतर रहा है। अपना बेल्ट बाँधिए।”

सुबोध सचेत होकर बैठ गया। अपना कमरबंद बाँधने लगा। थोड़ी देर में फिर कान में टीस-सी हुई; फिर हवाई जहाज़ के नीचे रगड़न महसूस हुई; और फिर वही बेलगाँव के रनवे पर जहाज़ दौड़ने लगा। आज वह दोबारा बेलगाँव के एअरोड्रोम पर उतरा। मगर आज वह बात न थी। तीन साल पहले की वह बात आज न थी। हलकी-हलकी रिमझिम हो रही थी आज। यात्री जल्दी-जल्दी थोड़ी दूर पर बनी हुई एअरोड्रोम की इमारत में चाय आदि पीने, आराम करने के लिए घुस गए। सुबोध हवाई जहाज़ से पास ही एक नीम के पेड़ के नीचे जाकर खड़ा हो गया और टहलने लगा, सोचने लगा

तीन साल पहले उस दिसम्बर की सुबह बात ही कुछ और थी। उस दिन कोई यात्री इमारत के अंदर चाय पीने नहीं गया था। सुबह की सुनहरी धूप में सब के सब इसी नीम के पेड़ के आसपास टहलने लगे थे। सबों ने यहीं, बाहर, चाय, कॉफी मँगाकर पी थी। इसी नीम के पास खड़े-खड़े उसने धूप सेंकी थी और यहीं पर, बेलगाँव के इसी हवाई अड्डे पर, इसी नीम के पास धूप में खड़े-खड़े, उसकी दृष्टि अचानक उस पाँव पर पड़ी थी। पाँव में हरे रंग का जूता था और वह हरे जूतेवाला पाँव सुबह की सुनहरी धूप में लहराती हुई हरी दूब को हलके से दबाए हुए था। पाँव टखने तक सिर्फ़ दिखाई दिया था। उससे ऊपर साड़ी शुरू हो गई थी। कितना सुन्दर पाँव था वह ! कितना भावक ! दूसरा पाँव साड़ी के अन्दर था। सुबोध की नज़र ऊपर को उठने लगी। हरे रंग की मँसूरी, ज़ोरों से मचली हुई उस प्रभाती हवा में, टाँगों से लिपटकर, फड़फड़ा रही थी। कमर के पास से बसंती रंग की रेशमी चोली शुरू हो गई थी, जिस पर लाल और

सुनहरे फूल बने थे। चोली के ऊपर उसकी सुडौल गर्दन थी। और गर्दन के ऊपर उसका मुखड़ा था। मुखड़े पर सर की लटें बिखर आई थीं। वह बार-बार उन्हें हटाने की चेष्टा करती और बार-बार हवा उन्हें उसके चेहरे पर बिखेर देती। आखिर उसने सर को सहसा एक झटका दिया और इस अदा से चेहरे पर से बाल हटाए कि सुबोध बस देखता रह गया। हरी दूब पर खड़ी हुई, हरे रंग की साड़ी और बसंती चोली में लिपटी हुई, वह युवती ऐसी लगी मानो वह उसी धरती का एक अंग हो जिस पर वह खड़ी थी, मानो उसी धरती से उगी हुई कोई अनोखी, अप्रतिम पौध हो, और इसी दम, रूई के गोले की तरह ढुलकता हुआ, बादल का एक टुकड़ा ठीक उसके पीछे आ जमा। बस सुबोध की तो जान ही निकल गई। वह उसे देखता रहा। सर से पाँव तक देखता रहा। न जाने कब तक देखा किया। उसकी नज़र फिर से पाँव पर आ जमी। सहसा पाँव साड़ी के अन्दर हो लिया। सुबोध ने नज़र ऊपर उठाई तो देखा वह उसे ही ताक रही थी। सुबोध अपनी इस घुस्ताखी पर कुछ झेंप-सा गया था। वह मुड़ी और हवाई जहाज़ की ओर चलने लगी। समय हो गया था। यात्री जहाज़ में बैठ रहे थे। पीछे-पीछे सुबोध भी चल पड़ा था।

सुबोध ने देखा रिमझिम ज़रा तेज हो गई है और पास वाली इमारत से निकलकर यात्री और कप्तान आदि जल्दी जल्दी हवाई जहाज़ की ओर लपके जा रहे हैं। वह भी उन्हीं के पीछे-पीछे चल पड़ा। अंदर जाकर अपनी सीट पर पहले की भाँति बैठ गया। प्लेन बेलगाँव से फिर उड़ा। ठीक उसी तरह जैसे तीन साल पहले उस दिसम्बर की सुबह को उड़ा था।

न जाने क्यों दिसम्बर की वह सुबह सुबोध से भुलाई नहीं जाती।

पिछली बार—तीन साल पहले—जब बेलगाँव से प्लेन उड़ा था तो बात ही कुछ और थी। रंग ही कुछ और था। उसने मुड़कर देखा था, उसी के पीछे बिलकुल आखिरी सीट पर वह अकेली बंठी हुई थी। कोई मंगजीन पढ़ रही थी। सुबोध की बगल की सीट खाली हो गई थी। और भी कुछ सीटें खाली हो गई थीं। बेलगाँव में कुछ यात्री उतर पड़े थे। सुबोध उठा और पीछे को स्थित बाथरूम की ओर चल पड़ा। आखिरी कुरसी पर वह बंठी पढ़ रही थी। ठीक वह जब उसके पास से गुजरने लगा कि आँखें फिर चार हुईं। सुबोध विनय भाव से मुस्कराया। वह भी मुस्कराई—सुबोध की तरह ही। सुबोध पास से गुजर गया, ध्रर हज़ार बरछियाँ उसके कलेजे में उतर चुकी थीं। उसके घुटने ढीले पड़ गए, पाँव डगमगाने लगे। हंडल पकड़कर उसने बाथरूम का दरवाज़ा खोला और अन्दर हो लिया। नल खोलकर उसने बहुत-सा ठंडा पानी मुँह पर छिड़का, कुल्लियाँ कौं, बाल सँवारे, साबुन की टिकिया से रगड़-रगड़कर हाथ धोए, तौलिया से हाथ, मुँह पोंछा; और फिर वह बाहर निकल आया। चटख से दरवाज़ा बन्द हुआ। उस युवती ने सर उठाया और उसकी ओर मुड़ने-मुड़ने को हुई पर न मुड़ी, फिर से सर नीचा करके पढ़ने लगी। सुबोध ने इसके बाद जो किया था वह उससे बरबस ही हुआ था। वह जाकर उसके पास खड़ा हो गया। युवती ने मुड़कर उसकी ओर देखा।

“आप यहाँ अकेली बंठी हैं। मेरे बाजू की सीट भी खाली है। या तो आप चलकर मेरे पास बंठ जाएँ या, आपको एतराज़ न हो तो, मैं यहाँ बंठ जाऊँ,” सुबोध ने सहज ही में कहा।

युवती मुस्कराई। “धन्यवाद,” उसने कहा। आप यहाँ बंठ सकते हैं।”

सुबोध उसके बराबरवाली सीट पर बंठ गया।

“कहाँ से आ रही हैं आप?”

“दिल्ली से।”

“और जाएंगी कहाँ ?”

“कोचीन ।”

“बूसरा हॉल्ट तो शायद मंगलोर है ?”

“जी आप कहाँ जा रहे हैं ?”

“मैं कोलंबो जा रहा हूँ । अगले हफ्ते वहाँ पर इंटरनेशनल डॉक्टरर्स कॉन्फ्रेंस है—उसी में शरीक होने जा रहा हूँ ।”

“आप डॉक्टर हैं ?”

“जी ।”

“मौसम बड़ा अच्छा हो रहा है !”

“जी हाँ, बड़ा ही अच्छा ।” फिर थोड़ी देर रुककर उसने कहा :

“मैं पूछ सकता हूँ, आप कोचीन कैसे जा रही हैं ?”

“मैं वहाँ रहती हूँ । आप कभी गए हैं कोचीन ?”

“जी नहीं । सुना है बड़ी अच्छी जगह है । लोगों को मंने कोचीन की बेनिस से तुलना करते सुना है ।”

“कोचीन बड़ा सुन्दर है । बेनिस भी देखा है मंने । कोचीन के सामने बेनिस कोई चीज़ नहीं ।” यह सब उसने गोद में पड़ी हुई मंग-जीन के खुले हुए पृष्ठ पर आँखें जमाए हुए ही कहा ।

सुबोध उसके आधे चेहरे को ताकने लगा । त्रिङ्की के बीच उसका सर ऐसा लगा जैसे किसी फ्रेम में मढ़ा हुआ कोई चित्र हो—किसी सुन्दर मुखड़े का सुन्दर चित्र । हजार बरछियों के घाव से उसके कलेजे में जोरों की टीस उठने लगी ।

हवाई जहाज़ मंगलोर पर रुका था । सुबोध और गीता ने साथ-साथ पी थी । वहाँ से कोचीन एक ही उड़ान थी । दोनों साथ-साथ फिर उड़े थे । बाक्ली यात्रा में बरछियों के बदले भाले चले थे । दोनों ओर से भाले चले थे । त्रिजली की गति से चले थे । यह सब अपने आप, अनायास ही हुआ था, सहज ही में हुआ था; इसलिए हुआ था कि होना ही था । जब तक प्लेन कोचीन हवाई अड्डे पर पहुँचा था

सुबोध और गीता के कलेजे छलनी हो चुके थे। गीता के साथ-साथ सुबोध भी कोचीन में उतर पड़ा था। कोलम्बो की सभा को अभी चार दिन का अवकाश था। दो, तीन दिन यहीं रहकर कोचीन की सैर करने का वह तय कर चुका था। भेद की बात कुछ और थी जिसका शायद उसे बराबर भान न था। सुबोध के घायल दिल न सुबोध के साथ छल किया था, कोचीन देखने का बहाना किया था। वास्तव में गीता की कशिश उसे खींच लाई थी कोचीन।

अबकी बार मंगलोर कब आया, कब मंगलोर से हवाई जहाज उड़ा सुबोध को पता ही न चला। वह गीता और गीता के साथ कोचीन में पिछली बार बिताए हुए सुखद तीन दिन-रात के विषय में सोचता, स्वप्नाता रहा। इस बार उसे मंगलोर में काम था मगर उसने चाहा था कि मंगलोर तक जा ही रहा है तो पहले एक दिन के लिए कोचीन हो आए। गीता से मिल लेगा। गीता को देखे तीन साल हो गए थे। इस बीच जाने कितनी कुछ बातें, कितनी कुछ घटनाएँ हुई थीं। मंगलोर तक जाने पर कोचीन न जाना सुबोध को विचित्र लगा था, और इसीलिए उसने वम्बई से कोचीन का टिकट कटाया था, और इसीलिए आज उसका सारा अस्तित्व कोचीन पहुँचने पर तुला हुआ था। मिलेगा न सही, देख ही लेगा उसे फिर एक बार, दूर से, बहुत दूर से।

“बेल्ट वाँधिए,” एअर होस्टेस ने घोषित किया।
“कोचीन आ रहा है।”

सुबोध फिर सोचने लगा तीन वर्ष पहले उस दिन की बात जब गीता के साथ-साथ वह कोचीन हवाई अड्डे पर उतरा था। गीता

को लेने उसके घर से गाड़ी आई थी। उसका पति, सरदार करतार सिंह, बाहर दौरे पर होने के कारण न आ सका था, मगर पिछली शाम को दौरे पर जाते समय चपरासी और ड्राइवर को आदेश दे गया था कि सुबह मेमसाहब को लेने वह लोग गाड़ी लेकर एअरोड्रोम जाएँ। चपरासी ने गीता से यही कहा था।

“कहाँ गए हैं साहब?” गीता ने पूछा था।

“चालगुडी गए हैं, मेमसाहब,” चपरासी ने उत्तर दिया था।

“कब लौटने को कह गए हैं?”

“बुधवार को आने कह गए हैं।”

आज शनीचर था। सुबोध और गीता की आँखें क्षण भर के लिए मिलीं और फिर इधर-उधर हो गईं।

“जंगल कटाई शुरू हो गई थी, मेमसाहब। काम मजे में चल रहा था पर अचानक एक मस्त हाथी निकल पड़ा और हमारे कुछ लोगों को जल्मी कर गया। आप तंबी को जानती हैं न? वह बेचारा अरना-कुलम अस्पताल में लाकर रखा गया है। काम फिर से चालू कराना था, इसीलिए साहब को जाना पड़ा।”

“अच्छा, सामान रखो गाड़ी में,” गीता ने कहा। “आइए, डॉक्टर मित्रा, बैठिए। आपको होटल छोड़ती जाऊँगी। गाड़ी ‘मीरामार’ होटल ले चलो।”

गीता के साथ सुबोध उसकी मोटर में बैठ गया था। जब गाड़ी चली थी तो गीता का हाथ सुबोध के हाथ में था।

पेट का पानी खलबलाया, हवाई जहाज के नीचे रगड़न हुई और फिर हलका-सा धक्का लगा। हवाई जहाज कोचीन के अड्डे पर खड़ा था। सुबोध नीचे उतरा। अब वह फिर से कोचीन में था। बदली छाई हुई थी। दिसम्बर की वह सर्द धूप न थी पर फिर भी कोचीन कोचीन ही था; वह कोचीन

जहाँ पर उसने जीवन की सुखदतम घड़ियाँ बिताई थीं, जहाँ उसकी गीता रहती थी। कितना प्यारा था कोचीन ! स्वर्ग था कोचीन ! कोई शहर शायद उतना ही अच्छा या बुरा लगता है जितने कि वहाँ रहनेवाले मित्र या सम्बन्धी लगते हैं। जिस जगह जान-पहचान का कोई नहीं होता वह जगह रूखी और अर्थहीन जान पड़ती है; और जहाँ प्रेयसी हो, सुखदा हो, वहाँ तो बस स्वर्ग ही हो जाता है।

सुबोध फिर 'मीरामार' पहुँचा। समुद्र उत्थान पर था। लहरें होटल के अहाते के जँगले पर आ-आकर ज़ोरों से टूट रही थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि जँगले के बाहर किसी ने पानी के फ़व्वारे छोड़ रखे हैं। आँगन के किनारे लगे हुए नारियल और झाऊ के पेड़ अंधाधुंध भूम रहे थे। कोचीन की यह बरसाती अदा थी। एक फर्लांग की दूरी पर, पानी के उस पार, द्वीप पर जो बस्ती थी उनमें, हरी छतों वाला गीता का दुमंज़िला बँगला, बदली और कुहरे के बीच से भी, साफ़ झलक पड़ रहा था, और हरी छतों में एक ओर बनी हुई चिमनी से धुएँ की लकीर ऊपर को उठी जा रही थी।

होटल के बाँय ने सुबोध के हाथ से सूटकेस लिया। सुबोध ने रजिस्टर में नाम लिखा। मैनेजर ने उसे कमरे की चाबी पकड़ाई।

सुबोध ने निश्चय किया हुआ था कि वह गीता को अब दुबारा न छेड़ेगा। उससे मिलेगा भी नहीं। सिर्फ़, अगर बन पड़ा तो, उसे एक बार दूर से देख भर लेगा। तीन साल से उसे नहीं देखा था, न आपस में चिट्ठी-पत्री ही हुई थी। गीता

के साथ उसका सम्बन्ध सिर्फ़ तीन दिन का रहा था और दोनों ने उस सम्बन्ध को बस उतनी ही आयु दी थी। सुबोध के कोचीन से चले जाने पर दोनों ने किसी अचानक भपकी में देखे हुए सुखद-स्वप्न की तरह ही उन तीन दिनों में सीमित घटना को लिया था और उसे वैसा ही समझा था। कोचीन में घटित उन प्रेम-क्रीड़ाओं को, उन रँगरलियों को फैलाकर, खींच-तानकर उपन्यास न बनाते हुए उन दोनों ने उन्हें एक लघुकथा का ही रूप दिया हुआ था; ऐसी लघुकथा जो अपने तईं सम्पूर्ण थी, स्वतंत्र थी, जिसका उन दोनों के जीवन की दूसरी लघुकथाओं से कोई सम्बन्ध न था, नहीं होना चाहिए था। और शायद इसी कारण, पिछले तीन वर्ष, सुबोध और गीता के बीच बिलकुल मौन रहा था। सुबोध के जीवन में इस अंतर में बड़ा परिवर्तन हुआ था। उसका ब्याह हो चुका था, दो बच्चे हो चुके थे, शहर में उसका नाम हो गया था, प्रैक्टिस ज़ोरों से चल पड़ी थी, गृहस्थी और धन्धे के बीच फल-फूलकर वह सफल और बड़ा आदमी बन गया था।

कमरे की चाबी उँगली पर घुमाता हुआ वह होटल का जीना चढ़ रहा था। सहसा उसकी नीयत बदल गई। गीता से न मिलने के संकल्प पर पानी फिर गया। वह मुड़ा और बाज़ू में रखे हुए टेलीफ़ोन पर पहुँचा। डिरेक्टरी में सरदार करतार सिंग का नम्बर देखकर डायल घुमाया और फ़ोन कान से लगाया ही था कि घुटने ढीले पड़ गए, पेट के अन्दर कहीं झुन्न-सा लगा और दिल ज़ोरों से धड़कने लगा....

“हलो, कौन साहब बोल रहे हैं?” टेलीफोन के दूसरे सिरे पर चपरासी पूछ रहा था।

“मिसेज़ सिंग हैं घर पर?” सुबोध ने पूछा।

“जी हाँ। आप कौन साहब हैं?”

“उनसे कहना, डॉक्टर साहब का फ़ोन है।”

“जी, बहुत अच्छा, हुज़ूर, ज़रा ठहरिए, मैं उन्हें ख़बर करता हूँ।

सुबोध ने जेब से रुमाल निकालकर माथे पर का पसीना पोंछा और उधर टेलीफोन में किसी ने कहा: “हलो?—हलो?—”

गीता बोल रही थी।

“हलो!” सुबोध ने उत्तेजित हो कहा।

“मैं मिसेज़ सिंग बोल रही हूँ।”

“हलो! कैसी हो?”

“जी आप कौन साहब हैं?”

“बताओ कौन हो सकता है?”

“आप डॉक्टर हैं?”

“जी।”

“कौन डॉक्टर हैं आप?—मैंने पहचाना नहीं आपको—क्या नाम बताया आपने?”

“गीता! भूल गईं मुझे! क्या अब तुम मेरी आवाज़ तक नहीं पहचान सकतीं?—मैं हूँ—डॉक्टर मित्रा—सुबोध मित्रा....हलो? हलो?”

“हलो....”

“क्या हो गया ? तुम चुप क्यों हो गई ?”

“कहाँ से आ रहे हैं आप ?”

“बम्बई से। अभी पहुँचा हूँ। आते ही तुम्हें फ़ोन किया। इरादा तो नहीं था। मंगलोर में काम था। मंगलोर आने को निकला था, पर देखो कोचीन पहुँच गया। तुम्हारी कशिश खींच लाई। तुमसे मिलने को छटपटा रहा हूँ।”

“डॉक्टर सुबोध मित्रा ?”

“हाँ, पहचाना ?”

“कहाँ से फ़ोन कर रहे हैं आप ?”

“‘मीरामार’ से। तुम्हें जुकाम हुआ है क्या ?”

“क्यों ?”

“आवाज़ ज़रा भारी लग रही है।”

“यूँही—ज़रा गला ख़राब हो रहा है।”

“ओह ! अच्छा, तुम्हारे साहब घर पर तो नहीं ह ?”

“दफ़तर गए हैं। अभी लंच के लिए आएँगे।”

“तो लंच के बाद—मिलोगी न ? मैं आज ही के रोज़ यहाँ हूँ। शायद कल चला जाऊँ। दोपहर को मिलोगी न ?”

“कहाँ पर ?”

“वहीं—जहाँ मिला करते थे—बाजू वाले टापू के खंडहर में। तुम अपनी मोटर लांच में आ जाना।”

थोड़ी देर चुप्पी रही। फिर उसने कहा : “चार बजे मैं आपके होटल आऊँगी।”

“अच्छा, होटल में ही सही। तो चार बजे पक्का आ रही—”

गीता ने टेलीफोन बन्द कर दिया था। खुलकर आज उसने बात न की थी। शायद उसकी तबीअत ठीक न थी। यह भी सम्भव है कि तीन वर्षों में पुरानी बातें वह भुला चुकी थी। सम्भव है टेलीफोन के पास खड़े हुए नौकर के सामने खुलकर बात करना उसने उचित न समझा हो। खैर, आ तो रही थी वह। चार बजे उससे मिलने उसके होटल आ रही थी। सुबोध टेलीफोन रखकर ऊपर को चल दिया।

“कमरा ठीक कर दिया, साहब,” होटल के बाँय ने सुबोध के कमरे में प्रवेश करते ही कहा। “नहाने को पानी भर दूँ टब में?”

“गरम है पानी?”

“जी, साहब।”

“तुम जाओ, हम निकाल लेंगे।”

“लंच के लिए नीचे आएँगे, साहब?”

“नहीं। डेढ़ बजे खाना यहीं दे जाना।”

बाँय चला गया। सुबोध ने कपड़े उतारे और गुस्लखाने में आया। टब को साबुन से रगड़-रगड़कर धोया, खूब धोया, ठीक उस तरह धोया जैसे डाक्टर लोग फोड़ा धोया करते हैं। फिर गरम और ठंडे पानी के नल छोड़ दिए। ज़रा देर में टब लबालब भर गया। सुबोध पानी में उतर पड़ा। गरम पानी के सम्पर्क में उसके शरीर की थकान धीरे-धीरे दूर होने लगी। वह फिर याद करने लगा वह दिन। गीता के साथ बिताए हुए वह तीन दिन उसे फिर याद आने लगे....

गीता अपनी मोटर लांच लिए आ जाया करती थी। लांच वह खुद चलाती थी। बाजू वाले टापू पर वह भी किराए की लांच लिए पहुँच जाया करता था। नारियल से घिरे हुए खंडहर में दोनों घंटों प्रेमालाप किया करते थे। लांच पर घंटों दोनों दूर-दूर सँर किया करते थे। कोचीन के चारों ओर जो खाड़ियों और नहरों का जाल बिछा हुआ है उस जाल की सुबह, शाम, दोपहर को, आधी रात को सँर किया करते थे। साथ खाना ले जाते थे। वहीं खाते, किनारे की ठंडी रेत पर दौड़ते, बालू से खेलते, और पानी में नहाते, तैरते। गीता खूब तैरती थी। मछली की तरह तैरती थी। प्यार भी वह शायद मछली की तरह ही करती थी। जब सुबोध से लिपटती तो उसे यह भान न रहता कि वह रेत पर लेटा हुआ है या पानी में गोते लगा रहा है, डोलती हुई लांच में है या पंखा झलकते हुए ताड़ों की झाड़ी में।

उसे याद है, एक रोज़ शाम को लांच में वह लोग लौट रहे थे। सूर्यास्त होने को था। ऊपर रंग-बिरंगी बादलों के गुम्बारे उड़े जा रहे थे। समुद्र का पानी खोला हुआ था और हवा मबलों हुई थी। सर की लटें गीता के चेहरे पर बिलर आई थीं। उसी तरह जिस तरह बेलगाँव के हवाई अड्डे पर बिलर आई थीं, जब सुबोध ने उसे पहली बार देखा था। सुबोध ने लांच का इंजन बन्द कर दिया था और गीता उसकी गोद में डुलक पड़ी थी। आकाश की नीलिमा लुप्त हो चुकी थी। हर तरफ़ बादल छा गए थे। सब बादलों ने सुर्ती पकड़ ली थी। दूसरे रंग मिटे जा रहे थे। लाली ही लाली फँल रही थी। जरा बेर में ही घुमड़कर आते हुए बादलों का सभस्त जत्था लाल सुर्ख हो उठा था और ऐसा लगता था मानो किसी कुशल डाक्टर ने चाकू से आकाश का पेट खोलकर रख दिया हो। सारा समुद्र लाल हो उठा था, मानो उसमें पानी नहीं लहू लहरें मार रहा हो। और दूर, नारियल वाले एक टापू के पीछे, माँस के लोबड़े की तरह लाल

लाल सूर्य लहू से थलथलाते समुद्र में डूबा जा रहा था। विचित्र वातावरण था, बड़ा ही आकर्षक, बड़ा ही मादक, और तब सुबोध और गीता मतवाले हो उठे थे . . .

थोड़ी देर बाद जब चारों ओर फैली हुई लाली छूटने लगी थी तो लांच के अन्दर टिककर बंठी हुई गीता ने सामने बैठे हुए सुबोध की छाती को पाँव से दबाते हुए पूछा था : “तुम किस तरह के डॉक्टर हो ? दवाई देनेवाले या चीरफाड़ करनेवाले ?” सुबोध उसे ताक कर मुस्कुराया था। “बोलो न-तुम फ़िजीशियन हो या सर्जन ?”

“सर्जन।”

“काहे का ऑपरेशन करते हो ?”

“मैं स्पेशलिस्ट हूँ।”

“किस बीमारी के ?”

“तुम बताओ, तुम्हारा क्या खयाल है ?”

“मैं समझती हूँ तुम्हें दिल की बीमारी का स्पेशलिस्ट होना चाहिए। क्यों ?”

छाती को दबाए हुए पाँव पर हाथ फेरता हुआ सुबोध मुस्कुराया।

“मैं स्त्रियों का डॉक्टर हूँ,” वह बोला। “बम्बई में मेरा सूतिका-गृह है।”

“क्या !” गीता विस्मित हो बोल पड़ी और उसका नंगा पाँव सुबोध की छाती पर फिसलने लगा, पर सुबोध ने उसे थाम लिया।

“हाँ,” वह मुस्कुराकर बोला। “स्त्रियाँ अपना पेट मुझसे नहीं छिपातीं।”

गीता मुस्कुराई। “एक बात पूछूँ ?” उसने कहा। “एक बात बताओगे ?”

“क्या बात ?”

“दिन-रात स्त्रियों की जाँच करते हो, उन्हें प्रसूत कराते हो, तुम्हारी तो तबीअत तर रहती होगी ?”

सुबोध हँस पड़ा। “तुम्हें शायद विश्वास न हो,” वह बोला, “मगर समझने की कोशिश करो। हम डॉक्टरों के पास जब कोई औरत जाँच कराने आती है तो मरीज के रूप में आती है। हम लोगों के दिल में उसकी योनि सम्बन्धी भावना जाग्रत नहीं हो पाती। हम उसे उसी निगाह से देखते हैं जिस निगाह से हम एक पुरुष या बच्चे को देखते हैं या मेढक, खरगोश या कँचुए को देखते हैं। जिस निगाह से एक अच्छा चित्रकार अपने मॉडल को देखता है उसी नज़र से हम अपने पेशेंट को देखते हैं। चित्रकार के नजदीक उसका मॉडल चाहे वह बूढ़ा फ़कीर हो या नग्न स्त्री, फलों की तश्तरी हो या गुलदस्ता, टूटी हुई झोपड़ी हो या बसंत में लहलहाते हुए खेतों का सुहावना दृश्य—सब बराबर है। यह सब उसके लिए योनिहोन है, लिंगहीन है। इन सबमें वह पारखी की तरह सिरु देखता है: उनका वास्तविक व्यक्तित्व, उनकी वास्तविक विशेषता या उनका वास्तविक सौंदर्य। हम डॉक्टर भी अपने मरीजों में उनकी वास्तविक बीमारी की खोज करते हैं; उनका इलाज करते हैं। लिंगभेद का भान हमें नहीं हो पाता। योनात्मक विचार कभी नहीं आता।

“कभी नहीं आता ?” गीता ने पूछा।

“अगर कभी आता भी हो तो बड़े हलके-से, धुंधले-से रूप में आता होगा, जो हमारी जिज्ञासा और छानबीन के तेज़ नशतर की धार पर ज्यादा देर ठहर नहीं पाता। मगर तुम नहीं समझोगी यह बातें—”

“समझ रही हूँ। पर अजीब बात है। तुम्हारा मतलब है तुमने आज तक तमाम स्त्रियों को डॉक्टर की ही निगाह से देखा है, आदमी की निगाह से नहीं ?”

“अस्पताल में डॉक्टर की निगाह से ही देखा है।”

“और अस्पताल के बाहर ?”

“बाहर किसी को देखने का मौका ही नहीं मिला। मैं काम में काफ़ी व्यस्त रहता हूँ। जानती हों बम्बई के होनहार और नामी डॉक्टरों में हूँ मैं।”

“इसमें मुझे शक नहीं; पर तुम्हारे कहने का मतलब है कि आज तक तुम्हारे जीवन में ऐसी कोई स्त्री नहीं आई जिसे तुमने स्त्री के रूप में देखा हो, मरीज के नहीं ?”

“आई है।”

“कौन ?”

छाती से लगे हुए नंगे पाँव को चूमकर सुबोध ने कहा :
“तुम।”

गीता का पाँव फिर तन गया।

“और मुझसे पहले ?” उसने कनखियों से देखते हुए पूछा और अपने निचले होंठ को दाँत से काटने लगी।

“लन्दन में जब मैं एफ० आर० सी० एस० के लिए गया था, काफ़ी फ़ुरसत मिला करती थी—तभी देखी थीं स्त्रियाँ।”

गीता ने हलके-से सुबोध की छाती पर लात लगाई। “बड़े चंद हो !” वह बोली। सुबोध हँसने लगा। दोनों में थोड़ी देर मौन रहा। सहसा वह पूछ बैठी : “क्या सोच रहे हो ?”

“सोच रहा था कल बुधवार है—तुम्हारे साहब बहादुर आ जाएँगे कल। सुबह मेरा प्लेन जाता है। तुम तो कल मिलने आ न सकोगी।”

मुझे पिटवाना है क्या ?

सरदार जी को क्या पता चलेगा। कह देना घूमने गई थी एअरोप्लेन।”

“इन बातों में वह बड़े तेज हैं। गिद्ध की नज़र रखते हैं। अगर उन्हें शक भी हो गया तो मार ही डालेंगे मुझे।” वह फिर हँसने लगी।

‘नहीं, मैं न आऊँगी कल एअरोड्रोम। अकेले ही चले जाना। और सुनो, कभी मुझे लिखना-विलखना मत और न ही मेरे बारे में किसी से पूछताछ करना।’

“मुझे क्या समझ रखा है तुमने?”

“तुम्हारा क्या भरोसा। बम्बई जाकर अपनी डॉक्टरी के रोब में कभी अपनी किसी पेशेंट से कह बंठो : ‘अच्छा, आप कोचीन रहती हैं! फिर तो आप मिसेज करतार सिंग को जानती ही होंगी? सरदार करतार सिंग जो कॉन्ट्रैक्टर हैं बड़े भारी—अरनाकुलम में जिनका बंगला है उनकी स्त्री, गीता, को आप नहीं जानती? मेरी बड़ी दोस्त हैं वह।’” दोस्त है वह।”

सुबोध ठहाका मारकर हँस पड़ा। गीता भी हँस पड़ी। उनकी हँसी उनके आसपास फैले हुए अंधकार में धीरे-धीरे विलीन हो गई।

“अब क्या सोच रहे हो?”

छाती से लगा हुआ गीता का पाँव सुबोध ने फिर से चूमा।

“तुम्हारा यह पाँव मुझे सपने में आता रहेगा। मुझे मालूम है कई रातों को मेरी नींद हराम होने वाली है। यह पाँव दे दो मुझे साथ ले जाऊँगा।”

“ले जाओ।”

“टखने से तोड़ लूँ या-या-कूल्हे समेत पूरा टाँग ही न ले जाऊँ काटकर?”

गीता खिलाखिलाकर हँस पड़ी। बोली : “अजीब डॉक्टर हो! जब देखो खीर-फाड़ को ही बात! चलो, चलें, रात हो गई! घर के नीकर चाकर क्या समझेंगे मुझे इतनी रात तक ग्रायब देखकर?”

और तब गीता ने पाँव छुड़ाकर लांच का इंजन चालू किया था।

उस रात जब सुबोध होटल पहुँचा था तो होटल के मैनेजर

ने उससे कहा था कि सरदार करतार सिंग शाम को वहाँ आए हुए थे और मिसेज करतार सिंग के बारे में पूछ रहे थे और उसके बारे में भी पूछ रहे थे कि उसका क्या नाम है, कहाँ से आया है, बगैरह, बगैरह।

“मिसेज करतार सिंग कौन ?” सुबोध ने बनकर पूछा।

“आप मिसेज करतार सिंग के साथ उनकी लांच पर नहीं गए थे ?”

“नहीं तो ? मैं सैर के लिए अकेला गया था। यह करतार सिंग कौन हैं ?”

“मिसेज करतार सिंग के पति हैं,” मंनेजर ने पंजी नज़र से सुबोध को सर से पाँव तक ताककर उत्तर दिया। “आपका खाना कमरे में भिजवाऊँ या नीचे खाइएगा ?”

“मैं बाहर खाकर आया हूँ। धन्यवाद। कल मेरे टिकट का क्या हुआ ?”

“रिज़र्व करा लिया है मैंने एक सीट कोलम्बो के लिए। आपका टिकट आपके कमरे में भिजवा दिया है।”

सुबोध जीना चढ़ते-चढ़ते सोचने लगा कि यह करतार सिंग एक दिन पहले ही कैसे आन टपका। इसका मतलब है कि कल अगर गीता उसे छोड़ने एअरोड्रोम आना भी चाहे तो न आ सकेंगी। कबाब में कम्बल्ट यह हड्डी बुरी आ टपकी।

सुबोध दूसरे दिन सबेरे हवाई जहाज़ में बैठ कोलम्बो के लिए रवाना हो गया था। गीता उसे छोड़ने न आ सकी थी और उड़ने से पहले सुबोध की आखें गीता को व्यर्थ ही खोजती रही थीं.....

टब के गरम पानी में पड़े-पड़े सुबोध तीन वर्ष पहले की वह सारी घटनाएँ बरबस सोचता रहा। मन में वह सारी पुरानी बातें दुहराते हुए उसे लगा वह कोई मनपसंद चलचित्र

फिर से देख रहा है। सुबोध ने आखिर तौलिया लिया और बदन पोछने लगा।

खाना खाकर कमरे में आराम कुरसी पर लेटा हुआ वह भपकियाँ ले रहा था जब किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। वह चौंक पड़ा। घड़ी देखी, चार बज रहे थे, ठीक चार। गीता आई थी। गीता दरवाज़ा खटखटा रही थी। चटपट उठकर सुबोध ने दरवाज़ा खोला। बाहर बाँय खड़ा था जो सलाम करके बोला : “साहब, कोई मेमसाहब आपसे मिलने आई हैं।”

“हाँ, हाँ, आने दो।” सुबोध ने बाहर भाँककर देखा कोई न था। “कहाँ हैं वह मेमसाहब?” उसने पूछा।

“नीचे हैं, साहब। आपको नीचे बैठक में बुला लाने को कहा है।”

“अच्छा, हम आते हैं,” कहकर फ़ौरन ही सुबोध कमरे से बाहर निकल आया। बाँय खाने की जूठी तश्तरियाँ उठाने अंदर चला गया।

नीचे बैठक में, दरवाज़े की ओर पीठ किए, एक कुरसी पर वह बैठी हुई थी। सुबोध का दिल आनंद और उत्तेजना से उछलने लगा। चुपके-से पास पहुँचकर उसने उसकी आँखें मींच लीं। उसके हाथ हटाकर वह फ़ौरन उठ खड़ी हुई।

“हलो!” सुबोध ने कहा।

पलटकर वह सुबोध के सामने खड़ी हो गई। सुबोध ने उसे देखा, उसके चेहरे को देखा, और अवाक् खड़ा देखता रह गया। वह गीता न थी।

“आपने फ़ोन किया था ?” वह पूछ रही थी।

“जी,” सुबोध ने कहा।

“आप ही डॉक्टर सुबोध मित्रा हैं ?”

“जी हाँ। मैंने मिसेज़ सिंग को फ़ोन किया था। वह नहीं आई ?”

“जी नहीं।” वह सुबोध को सर से पाँव तक देख रही थी, घूर-घूरकर देख रही थी।

“आपको मिसेज़ सिंग ने भेजा है ?”

“जी नहीं।”

“मगर मैंने फ़ोन मिसेज़ सिंग को किया था..... मैं—
मैं—समझा नहीं आप कैसे आई ! टेलीफ़ोन पर—”

“टेलीफ़ोन मैंने उठाया था।”

“ओह ! तो आप बोल रही थीं टेलीफ़ोन पर ?”
सुबोध ने साश्चर्य पूछा।

“जी हाँ,” वह बोली।

“मिसेज़ सिंग घर पर नहीं हैं क्या ?”

“जी नहीं।” एक टक वह सुबोध को ताक रही थी मानो वह कोई अजीब क्रिस्म का जानवर हो और किसी चिड़ियाखाने से निकालकर पहली बार उसके सामने लाया गया हो।

“कहीं गई हुई हैं ?”

“जी हाँ।”

“कहाँ ?”

वह सोफ़े पर बैठ गई। मगर उसकी आँखें सुबोध पर

जमी ही रहीं।

सुबोध ने फिर पूछा : कहाँ गई हैं गीता देवी ?”

“गीता मर गई।”

सुबोध धम्म-से कुरसी पर बैठ गया।

“क्या कह रही हैं आप !” उसने कहा। “यह आप क्या कह रही हैं !”

“गीता को स्वर्गवास हुए तीन साल होने आए। आप उन्हें जानते थे न ?”

“जी हाँ।”

“तीन साल पहले आप इसी होटल में आकर ठहरे थे न ?”

“जी हाँ। आपसे किसने कहा ?”

“गीता ने कहा था।”

“आप गीता को कब से जानती थीं ?”

“मैं उसकी छोटी बहन हूँ।”

“आपने टेलीफ़ोन पर कहा था कि आप मिसेज़ सिंग हैं।”

“सच कहा था। गीता के मरने के बाद सरदार जी ने मुझसे शादी कर ली।”

सुबोध के होश उड़े हुए थे। यह सब क्या मामला है उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। गीता मर गई ? तीन साल पहले ही मर गई थी ? शायद उसने इधर कोचीन छोड़ा था और उधर वह मर गई थी. उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि गीता मर भी सकती थी। उसकी आँखों में नमी-सी आ गई जो पास बैठी हुई युवती से छिपी न रही।

“क्या हुआ था गीता को ?” सुबोध पूछ रहा था।

“एक रोज़ शाम को वह लांच पर से नीचे गिर पड़ी।” युवती की आँखों से आँसू बह निकले। “कोई बचा न सका। डूबकर मर गई।”

“अकेली थी लांच पर ?”

“जी नहीं, सरदार जी भी साथ थे। पर क्या करते ? न उन्हें तैरना आता था और न गीता ही तैरना जानती थी।”

“गीता खूब तैरती थी।”

“जी ?”

“जी हाँ। गीता बहुत अच्छा तैरना जानती थी।”

“आपको कैसे मालूम ?”

“मुझे मालूम है। कहाँ हुआ यह—”

“यह ऐक्सिडेंट बिल्कुल होटल के बाज़्वाले टापू के पास ही हुआ था।”

“कब हुआ था ?”

“आपके जाने के दो हफ़्ते बाद।”

“आप कहाँ थीं उस वक़्त ?”

“मैं यहीं थी। आपके जाने के हफ़्ते भर बाद ही मैं और मेरे भाई दिल्ली से यहाँ आए हुए थे—गीता के पास कुछ दिनों रहने के लिए आए थे—और हमारे आने के हफ़्ते भर बाद ही गीता का ऐक्सिडेंट हो गया !” रुमाल से उसने आँसू पोछे।

“आपके भाई साहब उस वक़्त कहाँ थे ?” सुबोध ने पूछा।

“वह मुझे यहाँ छोड़कर दूसरे दिन ही दिल्ली वापस

चले गए थे। क्यों? आप यह क्यों पूछ रहे हैं?"

"कुछ नहीं, यूँ ही।" सुबोध फिर चुप हो गया। सोच में पड़ गया। किसी तर्क में डूब गया। आहिस्ता-आहिस्ता उसने सर ऊपर उठाया। देखा, वह उसी की ओर देख रही थी। "गीता को तैरना आता था, मिसेज़ सिंग," सुबोध ने कहा। "वह मछली की तरह तैरती थी। समझ में नहीं आता वह कैसे डूब गई!"

वह लगातार रूमाल से आँसू पोंछे जा रही थी; उठ खड़ी हुई, बोली : "अच्छा, डॉक्टर, मैं चलूँ।"

सुबोध भी उठ खड़ा हुआ।

"यह बताती जाइए," वह बोला, "आप मुझसे मिलने क्यों आईं?"

वह थोड़ी देर चुप रही। फिर बोली : "जब से मैंने गीता से आपके बारे में सुना था आपको देखने की बड़ी इच्छा थी। गीता पर आपने न जाने क्या जादू कर दिया था।"

सुबोध चुप हो गया।

"अच्छा, चलूँ। नमस्ते।"

"नमस्ते।"

वह चली गई। गीता की बहन चली गई। नई मिसेज़ सिंग चली गई।

सुबोध अवाक् खड़ा रहा। उसका चमन लुट चुका था। उसका स्वर्ग उजड़ चुका था। कोचीन उसे श्मशान की नाई प्रतीत होने लगा। जब तक जिएगा अब वह कोचीन कभी न आएगा। गीता के दम से ही तो कोचीन में बहार थी। अब

उसका कोचीन उजड़ चुका था, सदा के लिए उजड़ चुका था। उसकी गीता मर चुकी थी, सदा के लिए मर चुकी थी। अब वह उसे कभी नहीं देख पाएगा। सहसा उस दिन लांच पर गीता के कहे हुए शब्द याद आने लगे : “अगर उन्हें शक भी हो गया तो मार ही डालेंगे मुझे।” सुबोध के मन ने कहा गीता डूबकर नहीं मरी, गीता के साथ कोई ऐक्सिडेंट नहीं हुआ, उसका खून हुआ है, उसकी हत्या की गई है, उसे मार डाला गया है... . किसने ली उसकी जान? वह जानता था किसने ली।

टेलीफ़ोन पर पहुँचकर उसने रिसीवर उठाकर नम्बर लगाया।

“यह एअर इंडिया आफ़िस है,” टेलीफ़ोन में आवाज़ आई।

“देखिए, मैं डॉक्टर मित्रा ‘मीरामार’ होटल से बोल रहा हूँ। आज रात के प्लेन में मंगलोर के लिए एक सीट मिल सकेगी?”

“दो मिनट ठहरिए, मैं बुकिंग चार्ट देखकर बताता हूँ, अभी बताता हूँ।”

“जी, मैं ठहरा हूँ,” सुबोध ने कहा और फ़ोन कान से लगाए उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। अनायास उसकी भटकती हुई निगाह सामने पड़ी। होटल के बाहर, एक फर्लांग की दूरी पर, पानी के उस पार, हरी छतोंवाला गीता का दुमंज़िला बँगला अब भी खड़ा हुआ था और, डबडबाई आँखों से उसने देखा, हरी छतों में एक ओर बनी हुई चिमनी से धुएँ की लकीर ऊपर को उठी जा रही थी।

साहू की अन्य कृतियाँ

टेसू के फूल

‘टेसू के फूल’ श्री किशोर साहू की कहानियों का पहला संग्रह है जिसके प्रकाशन ने हिन्दी-जगत् में एक चकाचौंध पैदा कर दी। इसमें कुल १२ कहानियाँ संग्रहीत हैं। सभी एक-से-एक दिलचस्प और जोरदार। जिस किसी ने इन्हें पढ़ा है उसी ने सराहा है। पाठकों ने जिस तरह मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है उसी तरह आलोचकों ने इस संग्रह की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। ‘पुष्पा’, ‘घोंसला’ ‘सिराज का सहारनपुर’ तथा ‘उस्ताद की क्रसम’ आदि कहानियों को कथा-मर्मज्ञों ने विश्व-साहित्य में स्थान पा सकने योग्य कहा है। प्रथम कृति का कच्चापन इन कहानियों में देखने को भी नहीं मिलता। भाषा जितनी प्रवाहमयी है शैली उतनी ही चुस्त है। कथानक और पात्र सीधे हमारे आज के समाज से लिए गये हैं इसीलिए वे जीवन्त और वास्तविक लगते हैं। सांकेतिकता इन कहानियों की प्रमुख विशेषता है। पढ़ कर सहसा विश्वास नहीं होता कि फिल्म-जगत में ख्याति के शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में इतनी उत्कृष्ट कृति कैसे प्रस्तुत कर सकता है। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके दो संस्करण हाथों-हाथ बिक गये और इतनी थोड़ी अवधि में तीसरा संस्करण छापना पड़ा।

शादी या ढकोसला

किशोर साहू के तीन लम्बे सामाजिक एकांकियों का संग्रह है 'शादी या ढकोसला'। हमारी आज की विषम सामाजिक स्थितियों के तिलमिल देने वाले चित्र अपनी पूरी यथार्थता के साथ इनमें प्रस्तुत किये गये। युगों पुरानी खोखली आस्थाओं और सड़ी-गली परम्पराओं पर लेखक ने बड़े ही मार्मिक ढंग से तीव्र आघात किये हैं। स्वयं एक कुशल अभिनेता एवं सिद्ध निर्देशक होने के कारण ही श्री साहू ने नाट्य-कला का ऐसा निखरा हुआ रूप इन एकांकियों के माध्यम से व्यक्त किया है जो कितने ही मँजे हुए नाटककारों के लिए भी अनुकरणीय है। रंग-मंच की समस्त सुविधाओं-असुविधाओं आदि का सतर्कता पूर्वक ध्यान रखकर इन एकांकियों को पूर्ण रूप से अभिनेय बनाने की पूरी चेष्टा की गयी है। स्कूल-कालेजों तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं के रंग मंच के लिए इन नाटकों की उपयोगिता कितनी अधिक है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी जगत् में श्री साहू की इस नाट्यकृति का भव्य स्वागत होगा इसमें सन्देह नहीं।

वीर कुणाल

‘वीर कुणाल’ श्री साहू का बहुप्रशंसित ऐतिहासिक उपन्यास है। अशोक महान की रूपगर्विता रानी तिष्यरक्षिता और कर्तव्य की वेदी पर बलि हो जाने वाले आज्ञाकारी पुत्र कुणाल के जीवन को लेकर लिखी गयी यह कथाकृति अपनी तरह की अनूठी रचना है। राग-द्वेष, घृणा-प्रेम, करुणा और रस-क्रूरता, प्रतिशोध तथा क्षमाके ऐसे मूर्त-चित्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं कि पढ़ कर रोमांच हो आता है। कहीं क्रोध से मुठियाँ भिंच जाती हैं, कहीं करुणा से आँखें भर आती हैं। लेखक ने ऐतिहासिकता का पूरा ध्यान रक्खा है लेकिन जहाँ कहीं कथा के सूत्र टूटे हैं उन्हें जोड़ने के लिए उसने कल्पना का सहारा भी लिया है। इस उपन्यास की फिल्म भी बन चुकी है जो अपने समय में काफी लोकप्रिय हुई थी। अशोक, तिष्यरक्षिता और कुणाल का चरित्र-चित्रण करने में लेखक ने कमाल कर दिखाया है। पूरे कथानक को उसने इस तरह गंथा है कि रोचकता अन्त तक बढ़ती ही चली जाती है।

अभिसार

साहू ने कवि हृदय पाया है लेकिन गेय-गीत न लिख कर उन्होंने अपने भावों तथा भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गद्य को ही चुना है। पिंगल के शिकजे में अपने उद्गारों को बाँधना उनसे न हो सका। अभिसार उनके गद्य-गीतों का संग्रह है। यह सच है कि 'गीत' संज्ञा होने पर भी ये गाये नहीं जा सकते क्योंकि इनका ढाँचा गद्यमय है लेकिन आत्मा काव्यत्व से परिपूर्ण है। इन्हें मन-ही-मन पढ़ने पर वैसा ही रस मिलता है जैसे किसी उच्चकोटि के गेय-गीत को गुनगुनाने पर मिलता है। अनुभूति की गहराई और भावों की छटा देखते ही बनती है। 'टेसू के फूल' की तरह ही श्री साहू की इस कृति का भी पाठकों और आलोचकों ने समान रूप से अभिनंदन किया है। प्रत्येक सहृदय पाठक तथा समस्त पुस्तकालयों के लिए 'अभिसार' एक संग्रहणीय पुस्तक है, इसमें सन्देह नहीं।

